'सांख्यकारिका'

॥ श्रीः ॥

गोकुलदास संस्कृत ग्रन्थमाला

१३

ईश्वरकृष्ण-विरचिता

सांख्यकारिका

गौडपादभाष्य-भावार्थ-बोधिकासमेता

लेखिका—

उत्तरप्रदेश-राज्य-साहित्यिक-पुरस्कार-सम्मानिता

डॉ० (कु०) विमला कर्णाटक

एम० ए०, पी-एच० डी०, आचार्य, विद्यालंकार

प्राध्यापिका, कलासंकाय, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्भा ओरियन्टालिया

पो० आ० चौखम्भा, पो० बाक्स नं० ३२

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक :—

चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्यविद्या एवं दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक एवं विक्रेता

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ३२

गोकुल भवन, के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी–२२१००१ (भारत)

टेलीफोन : ६३०२२ टेलीग्राम : गोकुलोत्सव

प्रथम संस्करण १९७६

मूल्य रु० ८–००

अपरञ्च प्राप्तिस्थान :—

चौखम्भा विश्वभारती

चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)

वाराणसी

फोन : ६५४४४

GOKULDAS SANSKRIT SERIES
NO. 13

SĀṀKHYA-KĀRIKĀ

OF

ĪSHVARKRIṢṆA

With Gouḍpādbhāṣya Bhāvārtha Bodhikā Commentary

By

Dr. (Km.) VIMLA KARṆATAK

M. A., Ph. D., Āchārya, Vidyālankār

Honoured with U. P. Govt. Literary Reward

Lecturer, Faculty of Arts

Banaras Hindu University, Varanasi

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA

VARANASI (INDIA)

Publisher :

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA

A House of Oriental and Antiquarian Books

P. O. Chaukhambha, Post Box No. 32

Gokul Bhawan K. 37/109, Gopal Mandir Lane

VARANASI-221001 (India)

Telephone : 63022 Telegram : Gokulotsav

First Edition 1976

Price Rs. 8-00

Printers—Vidya Vilas Press, Varanasi

दो शब्द

पिछले कई दिनों से सांख्य पर लेखनी चलाने की प्रसुप्त इच्छा रही। यह इच्छा गुरुवर डॉ० गजानन शास्त्री महोदय, अध्यक्ष, प्राच्य विद्या धर्म-विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रेरणा के फलस्वरूप जाग्रत हो उठी और प्रकाशक महोदय के पूर्णतः सहयोग से पुस्तकाकार रूप में आज पाठकों के समक्ष परीक्ष्य पद्धति से प्रस्तुत हो सकी है।

यद्यपि सांख्यकारिका पर अनेक हिन्दी टीकाएँ, उपटीकाएँ उपलब्ध होती हैं, लेकिन ये अनुवाद स्तर पर लिखी प्रतीत होती हैं। अनुवाद की पद्धति अर्थावबोध के लिए अवश्य उपयोगी रहती है, लेकिन दर्शन के प्रारम्भिक जिज्ञासुओं के लिये विषय-बोध दुरुह हो जाता है। अतः एक ऐसे मध्यममार्ग का अनुसरण करने की आवश्यकता प्रतीत हुई, जो उक्त दुरुहता को दूर करते हुए विषय-प्रवेश में समर्थ हो सके।

सांख्य पर गौडपादभाष्य प्रामाणिक तथा प्राचीन ग्रन्थ है। भाष्य का अक्षरशः अनुवाद न करते हुए उसे भावार्थप्रधान व्याख्या सरणि से इसमें स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है तथा सांख्यकारिका की माठरवृत्ति और सांख्यतत्त्वकौमुदी से पंक्तियाँ उद्धृत करते हुये भाष्य की तुलना की गई है। प्रसङ्गानुसार आवश्यक टिप्पणियों का भी समावेश किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ को शोध की दिशा प्रदान की गई है।

प्रकाशक महोदय के अनुरोध से इसे परीक्षोपयोगी बनाने के लिए अन्त में पारिभाषिक शब्दकोष, चित्र-पट-सूची, प्रश्न-सूची तथा उत्तर-सूची का संकेत किया गया है। आशा है विद्यार्थी इससे लाभान्वित होंगे।

पुस्तक प्रकाशन में अत्यन्त लाभप्रद एवं गवेषणापूर्ण परामर्श प्रदान करने के लिए श्रद्धेय गुरुवर डॉ० श्रीनारायण मिश्र, संस्कृत प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रति विशेष अनुगृहीत हूँ।

लेखिका

विमला कर्णाटक

भूमिका

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में सांख्य का, आस्तिक दर्शन के रूप में, विशिष्ट स्थान है। वैदिकपरम्परामूलक सांख्य के सिद्धान्तों की प्राचीनता असन्दिग्ध है। दुःखनिवृत्ति के सर्वोपरि उपाय के रूप में सांख्य की शाश्वत उपादेयता एवं ग्राह्यता अक्षुण्ण है।

प्रस्तुत दर्शन के सूत्र, वृत्ति, कारिका तथा भाष्य—इन सभी विधाओं में सांख्य के सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं। इनमें सबसे प्राचीन विधा सूत्र-शैली है। महर्षि कपिल ने वेदसाहित्य से अन्वेषित सांख्य सिद्धान्तों का सफल एकत्रीकरण कर सूत्रात्मक शैली में सांख्यदर्शन का निर्माण किया। सांख्य-सूत्रों में निगूढ तत्त्वों का प्रस्फुटीकरण, एक ओर जहाँ विज्ञानभिक्षुकृत सांख्यप्रवचन-भाष्य में हुआ है, वहाँ दूसरी ओर ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका विषयबोध के लिये सुगममार्ग है। आवश्यक सूचनाओं द्वारा सुबोधगम्य मार्ग को सुगमतम बनाने में माठरवृत्तिकार तथा गौडपादभाष्यकार ने भी सांख्यदर्शन के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है।

सांख्य के सिद्धान्त

दुःख (संसार) से कैवल्य तक की विवेचना से पूर्ण सांख्य में अनेक व्याख्येय सिद्धान्त हैं, जैसे—दुःख, पदार्थ (तत्त्व), प्रमाण, गुण, सृष्टि, करण, सर्ग, शरीर तथा कैवल्य। इन सिद्धान्तों पर एक विहङ्गम दृष्टि डालना आवश्यक है।

अविद्या से आविर्भूत 'दुःख', 'संसार' का पर्याय है और विद्याप्रभव संसार की आत्यन्तिकी निवृत्ति सुख (परम सुख) है। सुख-दुःख की सहावस्थिति असम्भव रहने से संसार काल में होने वाली सुखानुभूति सुखाभासमात्र है। और परम सुख के समक्ष सुखाभास त्याज्य है, यह स्वाभाविक है—इस विश्वास के साथ महर्षि कपिल ने प्राणिमात्र के प्रति दुःख-नाश के उपाय का उद्घोष किया। सर्वसाधारण भी दुःख के प्रति शत्रुवत् व्यवहार कर सुख से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करते प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं। अतः जिज्ञासा होती है कि सर्व त्याज्य दुःख का स्वरूप क्या है ?

'दुःख' तीन प्रकार का है—आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक। स्वशरीर एवं स्वमन के द्वारा आत्मा में होने वाला दुःख, जिसे आन्तरदुःख भी कहते हैं, 'आध्यात्मिक' कहलाता है। वात-पित्त-कफ की असन्तुलित अवस्था; जो ज्वर, अतिसार आदि का कारण है, से 'शारीरिक दुःख' उत्पन्न होता है। इच्छा-पूर्ति के अभाव से, जो चिन्ता, व्याकुलता, व्यग्रता आदि का कारण है, उत्पन्न दुःख; जैसे—वर्षा, वज्रपात, उल्कापात आदि, 'आधिदैविक' है। चार प्रकार के प्राणिवर्ग से उत्पन्न जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज—दुःख आधिभौतिक है।

तीन प्रकार के दुःखों के आत्यन्तिक नाशार्थ लौकिक तथा कर्मकाण्डपरक वैदिक मार्ग का असामर्थ्य प्रतिपादित कर, सांख्यशास्त्रियों ने वैदिक सांख्यज्ञान मार्ग को अनुसरणीय बताते हुए उसकी व्यावहारिक उपयोगिता पर प्रकाश डाला है।

जिज्ञासा होती है कि वह कौन-सा सांख्यीय ज्ञानमार्ग है, जिसमें 'दुःख' पर्याय 'संसार' के आत्यन्तिक नाश की क्षमता है। 'ज्ञान सदा सविषयक होता है'—इस सिद्धान्त के अनुसार सांख्यज्ञान के विषयरूप में सांख्योक्त तत्त्व (पदार्थ) गृहीत होते हैं। सांख्यसम्मत तत्त्वों को दो प्रकार से वर्गीकृत किया गया है—जड़वर्ग तथा चेतनवर्ग। जड़वर्ग में चौबीस तत्त्व तथा चेतनवर्ग में पुरुष तथा ईश्वर दो तत्त्व हैं। इन तत्त्वों में आधुनिक विद्वानों का सन्देहास्पद तत्त्व एकमात्र ईश्वर है। सांख्यीय ईश्वर के लिये अस्ति-नास्ति दोनों प्रकार की विचारधाराएँ उपलब्ध होती हैं। अस्तु, सांख्यकारिका के निर्माता ईश्वरकृष्ण सांख्योक्त तत्त्वों का विभाजन चार प्रकार—अविकृति (मूलप्रकृति), प्रकृति-विकृति, केवलविकृति तथा प्रकृतिविकृतिशून्य—से करके तत्त्वों की एक, सप्त, षोडश तथा एक संख्या की क्रमशः संगति बैठाते हुए पञ्चविंशतितत्त्वसमूह को ज्ञानमार्ग के विषय रूप में प्रस्तुत करते हैं। प्रकृति; समस्त जड़ कार्यों का कारण तथा स्वयं किसी का कार्य न होने से, अविकृति अर्थात् मूलप्रकृति है। महत्, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्र—उत्तरोत्तर तत्त्वों के कारण तथा पूर्व-पूर्व तत्त्व के कार्य होने से, 'प्रकृतिविकृतिरूप' हैं। एकादश इन्द्रिय तथा पञ्चमहाभूत; क्रमशः अहंकार तथा पञ्चतन्मात्राओं के कार्य तथा स्वयं किसी के कारण (तत्त्वान्तरकारण) न होने से, 'केवलविकृति' रूप हैं। चेतन पुरुष, किसी का कारण न होने से और किसी का कार्य न होने से, 'प्रकृतिविकृतिशून्य' है।

उपर्युक्त पच्चीस तत्त्वों को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये ईश्वरकृष्ण को प्रमाणनिरूपण की आवश्यकता पड़ी, क्योंकि स्वयं ईश्वरकृष्ण का वक्तव्य है कि 'प्रमेयसिद्धिःप्रमाणाद्धि'। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—इन तीन प्रमाणों के द्वारा सांख्यीय तत्त्वों का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

प्रत्यक्ष की सत्यता सर्वमान्य होने से त्रिविध प्रमाणों में प्रत्यक्ष का स्थान प्रथम है। वे पदार्थ जिनका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता, उनके लिये प्रत्यक्षमूलक अनुमान की प्रवृत्ति होती है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान से अगम्य पदार्थ आगम-विषया सिद्ध किये जाते हैं। अतः प्रमेय की सिद्धि के लिये त्रिविध प्रमाणों की अनिवार्य स्वीकृति अपेक्षित है।

प्रमाणसिद्ध पञ्चविंशति तत्त्वों का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए आचार्य ईश्वर-कृष्ण ने जगत् (चतुर्विंशतितत्त्व) में व्याप्त सुख-दुःख-मोह, प्रकाश-प्रवृत्ति-निवृत्ति, लघुता,-गुरुता,-जड़ता के त्रिवृतीकरण के आधार पर जगत् के मूल-कारण प्रकृति में सत्त्व, रजस्, तमस् त्रिगुण की सत्ता सिद्ध की है। प्रकृति गुणों से भिन्न नहीं, अपितु तदात्मक है। अर्थात् गुण से पृथक् प्रकृति नहीं और प्रकृति

से पृथक् गुण नहीं हैं। त्रिगुण प्रकृति की दो अवस्थाएँ हैं—साम्यावस्था तथा वैषम्यावस्था। गुणों की साम्यावस्था प्रलय तथा उनकी वैषम्यावस्था संसार है।

जिज्ञासा होती है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति से तत्त्वों के आविर्भाव का; सत्कार्यवाद के अनुसार, क्या क्रम है? उत्तर है—वैषम्यावस्थाक प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से एकादश इन्द्रिय और पञ्चतन्मात्र तथा पञ्चतन्मात्र से पञ्चमहाभूत क्रमशः आविर्भूत होते हैं। महाभूत से आविर्भूत गो, घटादि तत्त्वान्तर रूप न होने के कारण महाभूत में ही अन्तर्भुक्त हैं। प्रतिसर्ग (प्रलय) का क्रम सर्ग-क्रम के विपरीत है। तत्तत् कार्य का अपने-अपने कारण में लय होते हुए मूलकारण प्रकृति में चरमलय होता है। सांख्य के अनुसार पदार्थों का आविर्भाव तथा तिरोभाव होता है, उत्पत्ति और नाश नहीं। क्योंकि असत् की उत्पत्ति नहीं और सत् का नाश नहीं होता है।

उपरिनिर्दिष्ट तात्त्विक सृष्टि के तेरह तत्त्वों—बुद्धि, अहंकार, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रिय तथा पञ्चकर्मेन्द्रिय—को सांख्य में करण संज्ञा से व्यवहृत किया गया है। तेरह करण बाह्य और आभ्यन्तर, द्वार और द्वारि रूप में विभाजित हैं। आभ्यन्तर करण बुद्धि, अहंकार तथा मन के अतिरिक्त दश करण (इन्द्रियाँ) 'बाह्य' हैं। द्वारिभूत बुद्धि के अतिरिक्त द्वादश करण द्वारस्वरूप हैं। मन की दृष्टि से अहंकार और इन्द्रिय की दृष्टि से मन को विषय अर्पित किये जाने के कारण अहंकार और मन भी द्वारिभूत कहे जा सकते हैं, लेकिन सांख्यकारिका में मुख्य द्वारिभूत बुद्धि की दृष्टि से अन्य करणों को द्वार पक्ष में रखा गया है। ज्ञान तथा भोग का साधन होने से ये 'करण' कहे जाते हैं। अन्तःकरण; बुद्धि, अहंकार तथा मन, की सामान्य और असामान्य दो वृत्तियाँ हैं। पञ्च प्राणादि-प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान-अन्तःकरण की सामान्य वृत्तियाँ हैं तथा अध्यवसाय, अभिमान तथा संकल्प-असामान्य वृत्तियाँ क्रमश हैं। विषय-ग्रहण के प्रति करणों का अग्रसरित होना दो प्रकार से होता है। प्रथम, 'खले कपोतन्याय' से एक बाह्येन्द्रिय तथा अन्तःकरणत्रय की युगपत्, अक्रम प्रवृत्ति होकर विषय का ज्ञान होता है। जैसे—घटाटोप अन्धकार में प्रकाश की किरण चमकते ही सामने सिंहदर्शन से (प्रत्यक्षवृत्ति के तुरन्त बाद) संकल्प, अभिमान और निश्चय वृत्तियाँ तुरन्त होती हैं, फलस्वरूप व्यक्ति तीन-दो-पांच हो प्राणों की रक्षा करता है। द्वितीय, करणचतुष्टय की क्रमशः अर्थात् ऊहापोह के साथ रुक-रुक कर वृत्तियां होती हैं। जैसे—अन्धकार में दिखाई दिये व्यक्ति के विषय में 'इसके हाथ में शस्त्र है अतः यह चोर है' ऐसा संकल्प कर, 'यह मेरी ओर आ रहा है' यह अभिमान करके तथा 'मुझे यहां से भाग जाना चाहिये' ऐसा अध्यवसाय कर व्यक्ति दौड़ पड़ता है। प्रत्यक्ष विषयों की भांति अप्रत्यक्ष विषयों में भी बाह्येन्द्रियों को छोड़कर अन्तःकरणत्रय की युगपत् एवं अयुगपत् वृत्तियां होती हैं। इन करणों में एक भेद यह है कि बाह्य करण वर्तमानमात्र को विषय करते हैं और आभ्यन्तरकरण अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों को विषय करते हैं।

पीछे बुद्धि से महाभूतपर्यन्त जो सृष्टि चर्चित हुई है, उसके आधार पर दो

प्रकार के सर्गों पर प्रकाश डालते हुए आचार्य ईश्वरकृष्ण ने प्रत्येक के बिना दूसरे का स्वरूप असम्भव रहने से दोनों सृष्टियों को उपयोगी सिद्ध किया है। इस प्रकार दो सर्गों से युक्त सृष्टि एक दूसरे का आश्रय लेकर प्रवृत्त होती है। ये दो सर्ग हैं—भौतिकसर्ग तथा प्रत्ययसर्ग। भौतिकसर्ग का अपर पर्याय तन्मात्रसर्ग तथा प्रत्ययसर्ग का दूसरा नाम बुद्धिसर्ग है। भौतिक सर्ग के तीन मौलिक भेद हैं—देवयोनि, तिर्यग्योनि तथा मनुष्ययोनि। देवयोनि के आठ प्रकार हैं—ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व यक्ष, राक्षस तथा पिशाच। तिर्यग्योनि के पांच प्रकार—पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप तथा स्थावर—हैं तथा मनुष्ययोनि एक ही प्रकार की है। विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि तथा सिद्धि भेद से चतुर्विध, गुणवैषम्य से पचास तथा अवान्तर भेदों से प्रत्ययसर्ग अनेकधा हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से दो प्रकार के शरीरों का प्रसङ्ग प्राप्त है, एक है—स्थूलशरीर, दूसरा है—सूक्ष्म शरीर। सूक्ष्म शरीर की अवस्थिति के लिये स्थूल शरीर की अनिवार्यता, चित्र की स्थिति के लिये भित्ति की अनिवार्य उपस्थिति के उदाहरण से, स्पष्ट है। सूक्ष्मशरीर, स्थूलशरीर से आवृत्त होने पर ही पुरुष (जीवात्मा) का भोगायतन बन पाता है। स्थूलशरीर के बिना सूक्ष्मशरीर भोगशून्य है। मातृ-पितृज षड्कोष स्थूलशरीर के घटक हैं तथा सूक्ष्मशरीर अष्टदश अवयवात्मक है। बुद्धि, अहंकार, मन, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ तथा पञ्चतन्मात्राएँ—ये सूक्ष्मशरीर के घटक हैं। महाप्रलय में, प्रधान में लय को प्राप्त होने तथा प्रधान का कार्य होने से सूक्ष्मशरीर को 'लिङ्गशरीर' भी कहते हैं। धर्माधर्मादि आठ भावों से युक्त, अप्रतिहतगतिशील; स्वतन्त्र, भोगरहित सूक्ष्मशरीर सृष्टि से लेकर महाप्रलय पर्यन्त प्रत्येक पुरुष के लिये पृथक्-पृथक् उत्पन्न होता है और रङ्गस्थली में नट के अनेकविध रूप धारण की भांति पुरुष स्थूलशरीर ग्रहण करके देव, मनुष्य, पशु, वृक्ष इत्यादि अनेक रूपों को धारणकर लोक-परलोक में आवागमन करता है। इस प्रकार स्थूलदेह के यहीं नष्ट हो जाने तथा शुद्ध आत्मा के व्यापक तथा निष्क्रिय होने से उसका परलोक गमन असम्भव होने से परलोक गमन आदि की उपपत्ति के लिये सूक्ष्मशरीर को आवश्यक माना गया है। वेदान्त का सूक्ष्मशरीर सांख्य के सूक्ष्म-शरीर से भिन्न है। वेदान्तीय सूक्ष्मशरीर सप्तदशतत्त्वात्मक—बुद्धि, अहंकार, दश इन्द्रियां तथा पञ्च प्राणात्मक है। वेदान्त में मन को सूक्ष्मशरीर का अङ्ग स्वीकृत नहीं किया गया है तथा पञ्चतन्मात्राओं के स्थान पर पञ्च प्राणों को माना गया है।

सूक्ष्मशरीर के आठ भावों से आठ प्रकार की अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। धर्म से ऊर्ध्वगमन, अधर्म से अधोगमन, ज्ञान से अपवर्ग; अज्ञान से बन्ध, वैराग्य से प्रकृतिलय, अवैराग्य (राग) से संसार, ऐश्वर्य से इच्छा-पूर्ति तथा अनैश्वर्य से इच्छा-विघात होता है। सांख्य का उद्देश्य है—सूक्ष्मशरीर को ज्ञान धर्म के द्वारा अपवर्ग (कैवल्य) प्राप्त कराना।

कैवल्य के सम्बन्ध में सांख्य दर्शन की मान्यता इस प्रकार है—पुरुष या आत्मा का बन्ध और मोक्ष व्यावहारिक है तथा प्रकृति का बन्ध और मोक्ष वास्तविक

है। प्रकृति ही बद्ध होती है और प्रकृति ही मुक्त होती है। अर्थात् प्रकृति स्वयं ही सात रूपों; धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य अनैश्वर्य से अपने को कर्माशयात्मक बन्धन से बांधती है और वही प्रकृति तत्त्वज्ञानात्मक एक धर्म अर्थात् विवेकख्याति से अपना बन्धविश्लेष करती है। त्रिविध दुःख बन्धनस्वरूप हैं। उनसे छुटकारा प्राप्त करना मोक्ष है। पुरुष के व्यावहारिक बन्धन का शिथिलीकरण प्रकृति-पुरुष के भेदज्ञान, जिसे विवेकख्याति कहते हैं, से होता है अर्थात् 'मैं जड़ प्रकृति (एवं उसके कार्य संसार) से भिन्न चेतन हूँ'—इस प्रकार की अविप्लुत = असन्दिग्ध विवेकख्याति से पुरुष को जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। जीवन्मुक्त, देहधारण करते हुए भी सांसारिक सुख-दुःख से असम्पृक्त रहता है और देहधारण के हेतुभूत प्रारब्धकर्म का भोग द्वारा नाश होते ही देहत्याग द्वारा जीवन्मुक्त विदेहमुक्त हो जाता है। यही विदेहमुक्ति है। इस प्रकार दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्ति से पुरुष का केवल होना 'कैवल्य' (केवलस्य भावः कैवल्यम्) अथवा अपवर्ग (अपवृज्यते इति अपवर्गः) है।

उपर्युक्त विवेचन से सांख्य के मतभेद रहित मौलिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त हो जाता है। अब सांख्य के मतभेदीय प्रकरणों को, जिनका संकेत प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है, लिया जाय। करणों के व्यापार तथा भावों के मतभेद को प्रस्तुत ग्रन्थ के ८३ तथा १०४ पृष्ठ में इङ्गित किया गया है।

सांख्यकारिका ३२ में तेरह करणों के तीन व्यापार बतलाये गये हैं—आहरण, धारण तथा प्रकाश। सांख्यकारिका के व्याख्याकार करणों के त्रिविध रूपों के विषय में एकमत हैं। किन्तु 'किस करण का कौन सा व्यापार है' के विषय में मतभेद है। युक्तिदीपिकाकार ने 'आहरण' कार्य कर्मेन्द्रियों, क्योंकि विषयों के अर्जन या प्राप्ति का सामर्थ्य उन्हीं में होता है, का माना है। 'धारण' कार्य ज्ञानेन्द्रियों, क्योंकि विषयों की प्राप्ति होने पर उनका धारण करने का सामर्थ्य उन्हीं में होता है, का स्वीकार किया है तथा विषयों का 'प्रकाशन' कार्य मन, अहंकार तथा बुद्धि का अङ्गीकार किया है। माठरवृत्तिकार के मत में इन्द्रिय मात्र (ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा मन) का कार्य आहरण, अभिमान का कार्य 'धारण' तथा बुद्धि का कार्य प्रकाशन है। वाचस्पतिमिश्र के अनुसार कर्मेन्द्रियों का अपने-अपने विषय को 'ग्रहण' करना व्यापार है। मन, अहंकार, बुद्धि—इन तीनों का प्राणादि वायुओं के द्वारा शरीर को 'धारण' करना व्यापार है तथा ज्ञानेन्द्रियों का अपने-अपने विषय को प्रकाशित करना व्यापार है। वाचस्पति मिश्र का एतद्विषयक मत जयमंगलाकार से मिलता है। गौडपादभाष्य में पूर्वोक्त सभी से भिन्न मत इन शब्दों में वर्णित है—कर्मेन्द्रियाँ 'आहरण' और 'धारण' करती हैं तथा बुद्धीन्द्रियाँ प्रकाश करती हैं। स्पष्ट है कि इस मत में त्रिविध अन्तःकरण का कोई कार्य ही नहीं बतलाया है, जब कि ईश्वरकृष्ण ने तीन व्यापार त्रयोदश करणों के बतलाये हैं। अतः गौडपादभाष्यकार का मत, सांख्यकारिका के विरुद्ध होने से, शिथिल प्रतीत होता है।

सांख्यकारिका ४३ में वर्णित भाव प्रकरण के आधार पर माठरवृत्तिकार तथा गौडपादभाष्यकार ने भावों की संख्या तीन बतलाई है—सांसिद्धिक, प्राकृतिक तथा वैकृत। चन्द्रिकाकार नारायणतीर्थ तथा कौमुदीकार वाचस्पति मिश्र के मत में भाव दो प्रकार के हैं—सांसिद्धिक तथा वैकृत। इनके मत में कारिका में प्रयुक्त 'प्राकृतिक' पद सांसिद्धिक भाव के अर्थ को स्पष्ट करता हुआ उसकी व्याख्या रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार प्राकृतिक और अप्राकृतिक अर्थात् स्वाभाविक और नैमित्तिक रूप में 'सांसिद्धिक' तथा 'वैकृत' दो प्रकार के भाव हैं। इसके विपरीत मत के अनुसार कारिका में प्रयुक्त 'प्राकृतिक' पद 'सांसिद्धिक' के स्पष्टीकरण रूप में नहीं, अपितु अपने एक स्वतन्त्र भेद के रूप में आया है—ऐसा मानकर गौडपादभाष्यकार ने तीन प्रकार के भावों की विचारधारा प्रस्तुत की है। किन्तु गौडपादकृत व्याख्या के अनुसार सांसिद्धिक तथा प्राकृतिक का भेद अत्यन्त स्फुट नहीं हो पाया। अतः दो भावों की मान्यता ही युक्तियुक्त प्रतीत होती है।

ईश्वर को लेकर आपाततः यही विदित होता है कि सांख्य के उद्भावक महर्षि कपिल निरीश्वरवादी थे। इसमें उनका ईश्वराऽसिद्धेः (सां० सू० १/९२) सूत्र प्रमाण है। लेकिन सांख्य के प्रतिपाद्य विषय तथा 'ईश्वराऽसिद्धेः' सूत्र का सप्रसङ्ग अध्ययन किया जाय तो निरीश्वर सांख्य की धारणा खण्डित होती हुई सेश्वर सांख्य सिद्ध हो जाता है। सांख्य के आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में सांख्य सेश्वर है। जगत् के उपादान कारण के रूप में प्रकृति की मान्यता को स्थापित करने वाले सांख्य का मुख्य उद्देश्य प्रकृति एवं उसके कार्यों का मुख्यतया प्रतिपादन करना है। अतः ईश्वर के विषय में सांख्य अधिक नहीं कह पाया है। जीवात्म पुरुष की चर्चा प्रकृति के प्रयोजन (उसे मुक्त करना) के रूप में की गई है। किन्तु सांख्य के पञ्चविंश तत्त्व पुरुष का अर्थ केवल जीवात्मा अर्थात् बद्ध पुरुष नहीं अपितु सर्वथा मुक्त परमात्मा या ईश्वर भी है। क्योंकि सांख्य का पुरुष शब्द पारिभाषिक है। अतः जड़ वर्ग से भिन्न चेतनवर्ग में बद्ध तथा सर्वथा मुक्त दोनों पुरुष आते हैं। बद्ध पुरुष अनन्त है और सर्वथा मुक्त पुरुष एक है। कह सकते हैं कि चेतनत्व की दृष्टि से ये सब पुरुष एक होने के कारण सांख्य के पच्चीस तत्त्वों की मान्यता भी सुरक्षित रह जाती है। 'ईश्वराऽसिद्धेः' सूत्र द्वारा कपिल ने ईश्वर का खण्डन नहीं किया है। यह तो प्रत्यक्षज्ञान के लक्षण की ईश्वर प्रत्यक्ष में अव्याप्ति की शंका उपस्थित करने वाले नास्तिक का पूर्वपक्ष है। उत्तरपक्ष में सूत्रकार कहते हैं उभयथाऽप्यसत्करत्वम् (सां० सू० १/९४) अर्थात् ईश्वर का नित्यज्ञानात्मक प्रत्यक्ष होने के कारण उसे अनित्य सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं पड़ती। ईश्वर का प्रत्यक्ष, लक्षण का लक्ष्य नहीं है। अतः अव्याप्ति की शङ्का ही नहीं होती है। इस प्रकार सेश्वर सांख्य सिद्ध होता है।

अनन्त चौदश
वि० सं० २०३३

विमला कर्णाटक

विषय सूची

विषय			पृष्ठ संख्या

॥ श्रीः ॥

सांख्यकारिका

गौडपादभाष्य-भावार्थ-समेता

❀

दुःखोच्छेदोपाय-जिज्ञासा

[१]दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा[२] तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥१॥

मातरं पितरं नत्वा गुरुं ज्ञानोपदेशम् ।
श्रीमदीश्वरकृष्णस्य कारिका व्याकरोम्यहम् ॥

अन्वयः—दुःखत्रयाभिघातात्, तदपघातके हेतौ जिज्ञासा [भवति], दृष्टे, सा अपार्था चेत् ? न, एकान्तात्यन्ततोऽभावात् ।

कारिकार्थः—(आत्मा के साथ) त्रिविध दुःखों के असह्य सम्बन्ध के कारण उन त्रिविध दुःखों को पूर्णतया अभिभूत करने में समर्थ सांख्यसम्मत उपाय के विषय में जिज्ञासा होती है । यदि कहा जाय कि दुःखनाशार्थ लौकिक उपाय प्रसिद्ध ही हैं, तदर्थ शास्त्रविषयक जिज्ञासा व्यर्थ है ? तो यह शङ्का उचित नहीं है । क्योंकि लौकिक उपाय से दुःखनिवृत्ति अनिवार्यतः तथा सर्वदा के लिये होती है, ऐसी बात नहीं है ॥ १ ॥

* श्रीगौडपादकृतं भाष्यम् *

कपिलाय नमस्तस्मै, येनाऽविद्योदधौ जगति मग्ने ।
कारुण्यात्साङ्ख्यमयी, नौरिव विहिता प्रतरणाय ॥ १ ॥
अल्पग्रन्थं स्पष्टं, प्रमाण-सिद्धान्त-हेतुभिर्युक्तम् ।
शास्त्रं शिष्यहिताय, समासतोऽहं प्रवक्ष्यामि ॥ २ ॥

---

१. प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम् (वात्स्या. १।१।२), प्रतिकूलवेदनीयतया बाधनात्मकमित्यर्थः (सर्व. द. सं. पृ. २४६ अक्ष.), दुःखत्वज्ञानादेव सर्वेषां दुःखं स्वाभाविकद्वेषविषयः । दुःखसाधनं तु द्विष्टसाधनत्वज्ञानाद्द्वेषविषयः (मु. गु. पृ. २२०), द्वेषजन्यद्वेषविषयः (प्र. गु. पृ. १७) दुःखं द्वेषविषयः इति वाक्यवृत्तिः (वाक्य गु. पृ. २१), अधर्मजन्यं सचेतसां प्रतिकूलम् (भा. प. श्लो. १४६) ।

२. अभिघातः (अभि + हन् + भावे घञ्) = अभिहननं, प्रहारः, व्याघातः, प्रतीकारः अपसारणमित्यर्थः ।

दुःखत्रयेति। अस्या आर्याया उपोद्घातः क्रियते। इह भगवान् ब्रह्मसुतः कपिलो नाम। तद्यथा—

'सनकश्च, सनन्दश्च, तृतीयश्च सनातनः।
आसुरिः, कपिलश्चैव, वोढुः पञ्चशिखस्तथा॥ १॥
इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः।'

कपिलस्य सहोत्पन्नानि 'धर्मो ज्ञानं वैराग्यम् ऐश्वर्यञ्चे'ति। एवं स उत्पन्नः सन्नन्धे तमसि मज्जज्जगदालोक्य, संसारपारम्पर्येण सत्कारुण्यो जिज्ञासमानाय आसुरिगोत्राय ब्राह्मणायेदं पञ्चविंशतितत्त्वानां ज्ञानमुक्तवान्, यस्य ज्ञानाद् दुःखक्षयो भवति,—

'पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र-तत्राश्रमे वसेत्।
जटी, मुण्डी, शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥'

तदिदमाहुः—दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासेति। तत्र दुःखत्रयम्–१ आध्यात्मिकम्, २ आधिभौतिकम्, ३ आधिदैविकञ्चेति। तत्राध्यात्मिकं द्विविधं, शारीरं मानसं चेति। शारीरं–वातपित्तश्लेष्मविपर्ययकृतं ज्वरातीसारादि। मानसं–प्रियवियोगाऽप्रियसंयोगादि। आधिभौतिकं–चतुर्विधभूतग्रामनिमित्तं मनुष्य-पशुमृगपक्षिसरीसृपदंशमशकयूकामत्कुणमत्स्यमकरग्राहस्थावरेभ्यो, जरायुजाण्डज-स्वेदजोद्भिज्जेभ्यः सकाशादुपजायते। आधिदैविकं—देवानामिदं दैवं, दिवः प्रभवतीति वा दैवं, तदधिकृत्य यदुपजायते शीतोष्णवातवर्षाऽशनिपातादिकम्।

एवं यथा—दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा कार्या। क्व? तदभिघातके हेतौ तस्य=दुःखत्रयस्य, अभिघातको योऽसौ हेतुस्तत्रेति। दृष्टे साऽपार्था चेत्=दृष्टे-हेतौ दुःखत्रयाभिघातके, सा=जिज्ञासा-अपार्था चेद्=यदि। तत्राध्यात्मिकस्य द्विविधस्यापि आयुर्वेदशास्त्रक्रियया, प्रियसमागमाऽप्रियपरिहारकटुतिक्तकषायक्वाथादिभिर्दृष्ट एव आध्यात्मिकोपायः। आधिभौतिकस्य रक्षादिनाऽभिघातो दृष्टः। दृष्टे साऽपार्था चेत् त्वं मन्यसे? न, एकान्तात्यन्ततोऽभावात्। यत एकान्ततः=अवश्यम्, अत्यन्ततः=नित्यं, दृष्टेन हेतुना अभिघातो न भवति, तस्मादन्यत्र एकान्तात्यन्ताभिघातके हेतौ जिज्ञासा=विविदिषा कार्येति॥ १॥

प्रणम्य पीतरावीशं गुरुं ध्यात्वा विरच्यते।
गौडपादीयभाष्यस्य व्याख्या भावार्थबोधिका॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थ:—आचार्य गौडपाद कारिका की व्याख्या प्रारम्भ करने से पूर्व ग्रन्थारम्भ की संस्कृत पद्धति के अनुसार सर्वप्रथम सांख्यशास्त्र के उद्भावक महर्षि कपिल को नमस्कार करते हैं। महर्षि कपिल; ब्रह्मा के सात पुत्रों—सनक, सनन्दन, सनातन, आसुरि, कपिल, वोढु और पञ्चशिख—में से हैं। ये जन्मतः धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य सम्पन्न थे। दुःखाक्रान्त

प्राणियों को जन्म-मरण के चक्र से छुड़ाने की अभिलाषा रख उन्होंने आसुरि-गोत्र में उत्पन्न ब्राह्मण को सांख्यशास्त्र का उपदेश दिया। आचार्य गौडपाद ने भवतरण के लिये सांख्यशास्त्र को उत्तम नौका जानकर सांख्यकारिका पर भाष्य लिखा जिससे शिष्यों को सांख्यशास्त्र सरलता से समझ में आ सके।

त्रिविध दुःखः—दुःख तीन प्रकार के हैं—आध्यात्मिक दुःख, आधिभौतिक दुःख तथा आधिदैविक दुःख। शरीर एवं मन से सम्बन्धित आध्यात्मिक दुःख शारीर और मानस भेद से दो प्रकार का है। शरीरधारक वात, पित्त एवं कफ की असंतुलित अवस्था में शारीरिकदुःख का उदय होता है। ज्वर, अतिसार आदि इसके उदाहरण हैं। मन की इच्छा के अनुसार अनुकूल एवं प्रतिकूल पदार्थों की क्रमशः प्राप्ति एवं वियोग न होने से मानसदुःख का जन्म होता है। चिन्ता व्याकुलता, व्यग्रता आदि इसके उदाहरण हैं। इस प्रकार आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार का सिद्ध होता है। इसे 'आन्तरदुःख' भी कहते हैं क्योंकि आन्तर-कारणों से इसका आविर्भाव होता है। अवशिष्ट दो प्रकार के दुःख बाह्य-प्रभावों से उत्पन्न होने के कारण 'बाह्य-दुःख' कहलाते हैं। आधिभौतिक दुःख वह है, जो चतुर्विध—जरायुज, अण्डज, स्वेदज एवं उद्भिज्ज—भूतसमूह (प्राणिसमुदाय) से उत्पन्न होता है। मनुष्य, पशु, मृग आदि 'जरायुज;' पक्षी, सर्प, मछली, ग्राह आदि 'अण्डज;' जुए आदि 'स्वेदज' तथा वृक्ष आदि 'उद्भिज्ज' प्राणिवर्ग के अन्तर्गत हैं। इनसे व्यक्ति समय-समय पर कितना अधिक परेशान रहता है, यह बतलाना आवश्यक न होगा। आधिदैविक दुःख 'देव' या 'दिव्' से संबन्धित है। देव का अर्थ देवयोनिविशेष—यक्ष, राक्षस, विनायक आदि, और 'दिव्' का अर्थ आकाश है। अतः इनसे जायमान दुःख आधिदैविक कहलाता है। शीत, उष्ण, वात (झंझावात), वर्षा, वज्र, उल्कापात आदि इसके उदाहरण हैं[1]।

दुःख का वरण करना कोई नहीं चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति परिस्थितिवश आये दुःख को दूर करने के लिये तत्पर रहता है। अतः विचारणीय यह है कि वर्जनीय दुःख का अभिभव (नाश) कैसे हो सकता है ?

त्रिविध दुःखों के परिहार में लौकिक उपाय की अपूर्णता :—यद्यपि विविध प्रकार के दुःखों के अनुसार दुःखनाशक नानाविध लौकिक उपाय दृष्टि-

१. कविकल्पलतायां लोकसिद्धानि कतिचिद्दुःखकारणानि दर्शितानि। तानि यथा—पारतन्त्र्यम् , आधिः, व्याधिः, मानच्युतिः, शत्रुः, कुभार्या, नैःस्वम् , कुग्रामवासः कुस्वामिसेवनम्, बहुकन्या, वृद्धत्वम्, परगृहवासः, वर्षाप्रवासः, भार्याद्वयम्, कुभृत्यः, दुर्बलकरणककृषिः इति—(श. क. द्रु. ७२३)।

गोचर होते हैं। जैसे—आयुर्वेद में कथित उपायों से शारीरिक दुःख, ईप्सित पदार्थ की प्राप्ति तथा अनीप्सित पदार्थ के परित्याग से मानस दुःख दूर किये जाते हैं। इसी प्रकार उपद्रवकारी प्राणियों के समीप न जाने से आधिभौतिक दुःख तथा मणि, मन्त्र आदि के प्रयोगों से आधिदैविक दुःख को नष्ट किया जा सकता है। तथापि ये लौकिक दृष्ट उपाय दुःख के शमनार्थ अंशतः समर्थ होते हैं। इनसे गया दुःख पुनः लौट आता है। इनमें दुःखों के समूलोच्छेदन का सामर्थ्य नहीं है।

सांख्यशास्त्रविषयक जिज्ञासा स्वाभाविक है :—अतः अत्यन्त सुकर लौकिक उपाय के रहने पर भी दुःख के परिहारार्थ सांख्यशास्त्रविषयक जिज्ञासा व्यर्थ नहीं है, वह अत्यन्त स्वाभाविक है। सांख्यीय पद्धति से ही त्रिविध दुःख की निश्चित तथा सार्वकालिक निवृत्ति होती है। अतः सांख्यशास्त्रीय ज्ञान की उपादेयता स्फुट है ॥ १ ॥

वास्तविक दुःखोच्छेदोपायजिज्ञासा

दृष्टवदानुश्रविकः[1] स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ २ ॥

अन्वयः—आनुश्रविकः (अपि) दृष्टवत् (भवति), हि सः अशुद्धिक्षया-ऽतिशययुक्तो (भवति), (अतः) तद्विपरीतः (उपायः) श्रेयान् (अस्ति), (यतः) व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् (जायते)।

कारिकार्थः—लौकिक उपाय की भांति कर्मकाण्डपरक वैदिक उपाय भी दुःख-निवृत्त्यर्थ सर्वतो ग्राह्य नहीं है। क्योंकि वह अशुद्धि (मल), क्षय (नाशवान् फल) एवं अतिशय (फल की न्यूनाधिकता)—इन त्रिविध दोषों से पूर्ण है। अतः कर्मकाण्डपरक वैदिक उपाय से भी भिन्न दूसरा ज्ञानपरक वैदिक उपाय श्रेयस्कर है, जो व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ के विवेकज्ञान से उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

भाष्यम्—यदि दृष्टादन्यत्र जिज्ञासा कार्या, ततोऽपि नैवम्। यत आनुश्रविको हेतुः दुःखत्रयाभिघातकः। अनुश्रूयत इत्यनुश्रवः, तत्र भवः-आनुश्रविकः स च आगमात् सिद्धः। यथा—

'अपाम सोमममृता अभूमाऽगन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् तृणवदरातिः, किमु धूर्तिरमृतमर्त्त्यस्य ॥'

कदाचिदिन्द्रादीनां कल्पनाऽऽसीत्—कथं वयममृता अभूमेति। विचार्य,

---

१. गुरुणोक्तं वेदं पश्चात् शृण्वन्ति शिष्याइत्यनुश्रवो वेदः। तत्र भव आनुश्रविकः (मा. वृ. पृ. ६)।

यस्माद्वयमपाम सोमं=पीतवन्तः सोमं, तस्मादमृता अभूम=अमरा भूतवन्त इत्यर्थः। किञ्च अगन्म ज्योतिः। गतवन्तः=लब्धवन्तः, ज्योतिः=स्वर्गमिति। अविदाम देवान्=दिव्यान् विदितवन्तः। एवं च किं नूनमस्मान् तृणवदरातिः। नूनं=निश्चितं, किमरातिः = शत्रुरस्मान् तृणवत् कर्तेति। किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य। धूर्तिः=जरा, हिंसा वा किं करिष्यति अमृतमर्त्यस्य ?

अन्यच्च वेदे श्रूयते—आत्यन्तिकफलं पशुवधेन। 'सर्वांल्लोकान् जयति, मृत्युं तरति पाप्मानं तरति, ब्रह्महत्यां तरति, योऽश्वमेधेन यजते' इति। ऐकान्तात्यन्तिके एवं वेदोक्ते—अपार्थैव जिज्ञासेति। न। उच्यते—दृष्टवदानुश्रविक इति। दृष्टेन तुल्यो दृष्टवत्। योऽसौ आनुश्रविकः कस्मात् स दृष्टवत्, यस्मात्-अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः अविशुद्धियुक्तः-पशुघातात्। तथा चोक्तम्—

'षट् शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्य वचनादूनानि पशुभिस्त्रिभिः॥' इति।

इत्थं यद्यपि श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मस्तथापि मिश्रीभावादविशुद्धियुक्त इति। तथा—

'बहूनीन्द्रसहस्राणि देवानां च युगे युगे।
कालेन समतीतानि, कालो हि दुरतिक्रमः॥ इति।

एवमिन्द्रादिनाशात् क्षययुक्तः। तथाऽतिशयो=विशेषस्तेन युक्तः। विशेषगुणदर्शनादितरस्य दुःखं स्यादिति। एवमानुश्रविकोऽपि हेतुर्दृष्टवत्। कस्तर्हि श्रेयानिति चेत्। उच्यते—तद्विपरीतः श्रेयान्। ताभ्यां दृष्टानुश्रविकाभ्यां, विपरीतः श्रेयान्=प्रशस्यतर इति, अविशुद्धिक्षयातिशयाऽयुक्तत्वात्। स कथमित्याह-व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्। तत्र व्यक्तं=महदादि, बुद्धिरहङ्कारः, पञ्च तन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चमहाभूतानि। अव्यक्तं=प्रधानम्। ज्ञः=पुरुषः। एवमेतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि 'व्यक्ताव्यक्तज्ञाः' कथ्यन्ते। एतद्विज्ञानाच्छ्रेय इति। उक्तं च 'पञ्चविंशतितत्त्वज्ञ' इत्यादि॥ २॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[प्रथम कारिका द्वारा लौकिक उपाय को दुःख-निवृत्त्यर्थ अपूर्ण सिद्ध करते हुए सांख्यशास्त्रीय ज्ञान को उपादेय एवं संग्राह्य बतलाया गया। संप्रति, सांख्यविद्या को अनुपादेय समझने वाले कर्मकाण्डियों के मत में दोष की उद्भावना कर वैदिक कर्मकाण्डपरक मार्ग को अग्राह्य बतलाया जा रहा है]

दुःखनिवृत्त्यर्थ कर्मकाण्डपरक वैदिक उपाय की दोषपूर्णताः—यद्यपि वेद में 'अपाम सोमममृता अभूम' इत्यादि श्रुतिवाक्य उपलब्ध होते हैं।

इनके द्वारा अमृतत्वप्राप्ति का साधन एवं उसका स्वरूप बतलाया गया है तथापि दुःखनिवृत्ति का यह कर्मकाण्डपरक वैदिक मार्ग दोषयुक्त होने से संग्राह्य नहीं है। वैदिक कर्म में मुख्यतः तीन प्रकार के दोष हैं। जैसे [1]स्वर्गप्रतिपादक ज्योतिष्टोम, अश्वमेध आदि यागों में पशु का विनियोग (उपयोग) किया जाता है। अतः ये पशुवधरूप दोष से युक्त हैं। इनमें 'षट्शतानि' वाक्य प्रमाण है। एतावता पशुवधरूप दोष से संपृक्त रहने के कारण वैदिक कर्म को 'अशुद्धियुक्त' कहा गया है। इन यागादि साधनों से प्राप्त होने वाले स्वर्गादि फल नित्य हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि पुण्यक्षीण होने पर व्यक्ति को पुनः संसार की ओर लौटना पड़ता है। इसमें 'बहूनीन्द्रसहस्राणि' वाक्य प्रमाण है। अतः वैदिक क्रिया-कलाप को 'क्षययुक्त' कहा गया है। वैदिक क्रिया के अनुष्ठाताओं को समान अनुपात में फल प्राप्त होता है, ऐसा भी नहीं है। अर्थात् फल-वैषम्य दृष्टिगोचर होता है। एक स्वर्ग का सदस्य बनता है और दूसरा स्वर्ग का अधिकारी। यही वैदिककर्म की 'अतिशययुक्तता है। इस प्रकार उक्त त्रिविध दोषों से युक्त होने के कारण—पशुवधरूप अधर्म से दुःखप्राप्ति, पुण्यक्षीण होने पर इन्द्रादि पद से च्युतिपूर्वक संसारागमन रूप दुःखप्राप्ति तथा स्वर्ग-स्थिति में भी अपने से दूसरे को अधिक ऐश्वर्य-सम्पन्न देखकर ईर्ष्या, ग्लानि आदि होने के कारण—लौकिक उपाय की भांति वेदप्रतिपादित कर्म-मार्ग का अनुसरण करना उचित नहीं है। अतः किस पद्धति से त्रिविध-दुःख की आत्यन्तिक[2] एवं ऐकान्तिक[3] निवृत्ति हो सकती है ? यह जिज्ञासा मुमुक्षुओं को रहती है।

मुमुक्षुओं की उक्त जिज्ञासा को दृष्टि में रखकर महर्षि कपिल ने लौकिक एवं कर्मकाण्डपरक वैदिक मार्ग से भिन्न ज्ञानपरक वैदिकमार्ग का उपदेश दिया है और उसे सर्वश्रेष्ठ साधन घोषित किया है। इसमें प्रथम एवं द्वितीय साधनों में कहे गये दोष नहीं हैं। यह उच्चतम ज्ञान, व्यक्त—महदादि अर्थात् बुद्धि, अहंकार, पञ्चतन्मात्र, एकादश इन्द्रिय तथा पञ्चमहाभूत, अव्यक्त—प्रधान तथा ज्ञ—पुरुष के अपरोक्षात्मक स्वरूपज्ञान से अर्थात् विवेक (भेद) ज्ञान से उत्पन्न होता है। उक्त ज्ञान की मोक्ष साधनता में 'पञ्चविंशति तत्त्वज्ञः' वाक्य प्रमाण है। एतावता सांख्यशास्त्रीय ज्ञान की उपादेयता सिद्ध होती है ॥ २ ॥

---

१. मीमांसकानां मते स्वर्गस्य स्वरूपम्—

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥

(सांख्यतत्त्वकौमुद्यामुद्धृतं वचनम् पृ० २०)।

२. (अत्यन्त + ठञ्) नित्यस्थायी, अनन्त।

३. निश्चित।

सांख्यीय तत्त्वपरिगणन

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३ ॥

अन्वय :—मूलप्रकृतिः[1] अविकृतिः, महादाद्या प्रकृतिविकृतयः[2] सप्त, विकारस्तु[3] षोडशकः, पुरुषः न प्रकृतिः न विकृतिः[4] ॥ ३ ॥

कारिकार्थ :—मूलप्रकृति 'अविकृति' रूप है। महदादि सात पदार्थ 'प्रकृति-विकृति' उभयरूप हैं। सोलह तत्त्वों का समूह केवल 'विकृति' रूप है तथा चेतन पुरुष 'अनुभय' रूप है अर्थात् न प्रकृति ही है और न विकृति ही है ॥ ३ ॥

भाष्यम्—अथ व्यक्ताऽव्यक्तज्ञानां को विशेष इति ? उच्यते मूलप्रकृतिः = प्रधानं, प्रकृतिविकृतिसप्तकस्य मूलभूतत्वात् । मूलं च सा प्रकृतिश्च—मूलप्रकृतिः । अविकृतिः अन्यस्मान्नोत्पद्यते तेन प्रकृतिः कस्यचिद्विकारो न भवति । महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । महान्=बुद्धिः । बुद्ध्याद्याः सप्त—बुद्धिः १, अहङ्कारः १, पञ्च तन्मात्राणि ५ । एताः सप्त प्रकृतिविकृतयः । तद्यथा—प्रधानाद् बुद्धिरुत्पद्यते, तेन विकृतिः=प्रधानस्य विकार इति । सैवाहङ्कारमुत्पादयति, अतः प्रकृतिः । अहङ्कारोऽपि बुद्धेरुत्पद्यत इति विकृतिः, स च पञ्चतन्मात्राण्युत्पादयतीति प्रकृतिः । तत्र शब्दतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः, तस्मादाकाश उत्पद्यत इति प्रकृतिः । तथा स्पर्शतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः, तदेव वायुमुत्पादयतीति प्रकृतिः । गन्धतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः, तदेव पृथिवीमुत्पादयतीति प्रकृतिः । रूपतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः, तदेव तेज उत्पादयतीति प्रकृतिः । रसतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः तदेवाप उत्पादयतीति प्रकृतिः । एवं महदाद्याः सप्त प्रकृतयो, विकृतयश्च । षोडशकस्तु विकारः । पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः, पञ्च महाभूतानि, एष षोडशको गणो विकृतिरेव । विकारो—विकृतिः । न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थ :—सांख्यशास्त्रीय ज्ञान के वैशिष्ट्य प्रतिपादन के साथ-साथ महर्षि ईश्वरकृष्ण ने द्वितीय कारिका के 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्'—

---

१. कारणमेव सा न कार्यमित्यर्थः । अनुत्पन्नत्वादुत्पादकत्वाच्च । (मा. वृ. पृ. ९) ।
२. उत्पन्नत्वादुत्पादकत्वाच्च—(मा. वृ. पृ. १०) ।
३. उत्पन्नत्वादनुत्पादकत्वाच्च (मा. वृ. पृ. १०) ।
४. पुरुषस्तु पुनर्न प्रकृतिरनुत्पादकत्वात् न च विकृतिरनुत्पन्नत्वात् (मा. वृ. पृ. १०) ।

चतुर्थ अंश से सांख्यशास्त्र के पदार्थों की ओर भी संकेत किया है। प्रस्तुत कारिका में उन संकेतित पदार्थों का विश्लेषण किया जा रहा है।

जगत् में दो प्रकार के पदार्थ हैं—जड़ एवं चेतन। जड़वर्ग के अन्तर्गत प्रकृति, महत् , अहंकार, एकादश-इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्र एवं पञ्चमहाभूत आते हैं। चेतनवर्ग में असंख्य पुरुष हैं। कारिका द्वारा उक्त पच्चीस तत्त्वों को चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है। वे चार श्रेणियां हैं–'अविकृति' श्रेणी, 'प्रकृतिविकृति' श्रेणी, 'विकृति' श्रेणी तथा 'अप्रकृतिविकृति अनुभय' श्रेणी। सांख्यशास्त्र में 'विकृति' शब्द कार्य अर्थ में पारिभाषित है। अतः 'अविकृति' पद का अर्थ हुआ, जो किसी का कार्य न होकर एकमात्र कारण हो। ऐसा तत्त्व केवल प्रधान है। उसे ही 'मूल-प्रकृति' शब्द से कहा जाता है। प्रधान ही महदादि समस्त जड़ पदार्थों का साक्षात् तथा परम्परया मूलकारण है, इसलिए उसे 'मूलप्रकृति' कहते हैं। प्रकृति–विकृति श्रेणी के अन्तर्गत महत् अहंकार एवं पञ्चतन्मात्र हैं। ये कार्य एवं कारण उभयरूप हैं। जैसे बुद्धि अहंकार की दृष्टि से प्रकृति (कारण) तथा प्रधान की दृष्टि से विकृति (कार्य) है। अहंकार पञ्चतन्मात्र का कारण होने से प्रकृतिरूप तथा बुद्धिका कार्य होने से विकृतिरूप है। पञ्चतन्मात्राओं से पञ्च-महाभूतों को उत्पत्ति होती है और वे स्वयं अहंकार से उत्पन्न होते हैं। अतः पञ्चतन्मात्र प्रकृति-विकृति उभय रूप हैं। आचार्य गौडपाद ने पञ्च-महाभूत एवं पञ्चतन्मात्राओं के विशिष्ट (सूक्ष्म) कार्यकारणभाव को सिद्ध करते हुए शब्दतन्मात्र से आकाशभूत की उत्पत्ति, स्पर्शतन्मात्र से वायुभूत की उत्पत्ति, गन्धतन्मात्र से पृथ्वीभूत की उत्पत्ति, रूपतन्मात्र से तेजोभूत की उत्पत्ति तथा रसतन्मात्र से जलभूत की उत्पत्ति कही है, यह तत्-तत् भूतों में तत्-तत् तन्मात्राओं का अंश अधिक रहने के कारण समझनी चाहिए। वस्तुतः प्रत्येक भूत में पांचों तन्मात्राओं का समावेश रहता है। इसे वेदान्त शास्त्र में 'पञ्चीकरण' प्रक्रिया से स्पष्ट किया गया है। सांख्यशास्त्र के अवशिष्ट सोलह जड़पदार्थ—एकादश इन्द्रिय एवं पञ्चमहाभूत—केवल 'विकृति' श्रेणी के अन्तर्गत हैं। अहंकार का कार्य होने से एकादश इन्द्रियां तथा पञ्चतन्मात्राओं का कार्य होने से पञ्चमहाभूत विकृति रूप हैं और स्वयं किसी का कारण न होने से 'केवलविकृति' कहे जाते हैं। एकादश इन्द्रियां में श्रोत्र, त्वक् चक्षु, रसना और घ्राण-ये पांच ज्ञानेन्द्रियां, वाक् पाणि (हाथ) पाद (पैर) पायु तथा उपस्थ—ये पांच कर्मेन्द्रियां किन्तु मन उभयात्मक है। जड़ पदार्थों में ही कार्यकारण की परम्परा दृष्टिगत होने से तद्भिन्न चेतन पुरुष[1] को चतुर्थ

१. चित्स्वरूप आत्मा।

'अनुभय' श्रेणी में रखा गया है। अर्थात् पुरुष किसी का कार्य नहीं और न किसी का कारण है। उपर्युक्त विवेचन से सांख्यशास्त्रियों को कितने पदार्थ मान्य हैं, यह जिज्ञासा शान्त हो जाती है।॥ ३॥

[प्रमाण-मीमांसा]

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ ४ ॥

अन्वय :—दृष्टम्, अनुमानम्, आप्तवचनं च त्रिविधं प्रमाणं इष्टम्। [एतेष्वेव] सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्। हि प्रमाणात् प्रमेयसिद्धिः [भवति]॥ ४॥

कारिकार्थः—सांख्यशास्त्रियों[1] को दृष्ट, (प्रत्यक्ष) अनुमान तथा आप्त-वचन (शब्द अथवा आगम)—ये तीन ही प्रमाण मान्य हैं। क्योंकि अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत अतिरिक्त प्रमाणों का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। (प्रमाणों की उपादेयता बतलाई जा रही है—) यह निश्चित है कि प्रमाण के द्वारा ही प्रमेय (पदार्थ) की सिद्धि होती है॥ ४॥

भाष्यम्—एवमेषां व्यक्ताव्यक्तज्ञानां त्रयाणां पदार्थानां कैः, कियद्भिः प्रमाणैः, केन, कस्य वा प्रमाणेन सिद्धिर्भवति ? इह लोके प्रमेयवस्तु प्रमाणेन साध्यते। यथा प्रस्थादिभिर्व्रीहयः, तुलया चन्दनादि। तस्मात् प्रमाणमभिधेयम्।

दृष्टमिति—दृष्टं यथा—श्रोत्रं त्वक् चक्षुर्जिह्वा घ्राणमिति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा एषां पञ्चानां पञ्चैव विषया यथासङ्ख्यम्। श्रोत्रः शब्दं गृह्णाति, त्वक्-स्पर्शं, चक्षू-रूपं, जिह्वा-रसं, घ्राणः-गन्धमिति। एतत् 'दृष्ट'—मित्युच्यते प्रमाणम्। प्रत्यक्षेणानुमानेन वा योऽर्थो न गृह्यते, स आप्तवचनाद् ग्राह्यः। यथेन्द्रो देवराजः, उत्तराः कुरवः, स्वर्गेऽप्सरस इत्यादि। प्रत्यक्षानु-मानाऽग्राह्यमप्याप्तवचनाद् गृह्यते। अपि चोक्तम्—

'आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः।
क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात्॥
स्वकर्मण्यभियुक्तो यः सङ्गद्वेषविवर्जितः।
पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः॥ १॥

---

१. (क) सांख्यशास्त्रियों की भांति योगशास्त्रियों को भी तीन ही प्रमाण मान्य हैं। इसमें प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि (यो. सू. १।७) सूत्र प्रमाण है।
(ख) मनु ने भी तीन ही प्रमाण माने हैं—
प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥ (मनु. १२।१०५)

एतेषु प्रमाणेषु सर्वप्रमाणानि सिद्धानि भवन्ति। षट् प्रमाणानि, इति जैमिनिः। अथ कानि तानि प्रमाणानि? १. अर्थापत्तिः, २. सम्भवः, ३. अभावः, ४. प्रतिभा, ५. ऐतिह्यम् ६. उपमानं चे' ति षट् प्रमाणानि। तत्राऽर्थापत्तिर्द्विविधा—दृष्टा, श्रुता च। तत्र दृष्टा—एकस्मिन् पक्षे आत्मभावो गृहीतश्चेदन्यस्मिन्नप्यात्मभावो गृह्यत एव। श्रुता यथा—दिवा देवदत्तो न भुङ्क्ते, अथ च पीनो दृश्यते, अतोऽवगम्यते—रात्रौ भुङ्क्त इति। सम्भवो यथा-'प्रस्थ' इत्युक्ते चत्वारः कुडवाः सम्भाव्यन्ते। अभावो नाम प्रागितरेतराऽत्यन्त-सर्वाऽभावलक्षणः। प्रागभावो यथा-देवदत्तः कौमारयौवनादिषु। इतरेतराभावः—पटे घटाऽभावः। अत्यन्ताऽभावः—खरविषाण-वन्ध्यासुतखपुष्पवदिति। सर्वाऽभावः=प्रध्वंसाऽभावो दग्धपटवदिति। यथा शुष्कधान्यदर्शनाद् वृष्टेरभावोऽवगम्यते। एवमभावोऽनेकधा। प्रतिभा यथा—

'दक्षिणेन च विन्ध्यस्य सह्यस्य च यदुत्तरम्।
पृथिव्यामासमुद्रायां स प्रदेशो मनोरमः॥

एवमुक्ते तस्मिन् प्रदेशे शोभनाः गुणाः सन्तीति प्रतिभोत्पद्यते। प्रतिभा च जानतां ज्ञानमिति। ऐतिह्यं यथा—ब्रवीति लोको यथा 'अत्र वटे यक्षिणी प्रतिवसती' त्येव ऐतिह्यम्। उपमानं यथा—गौरिव गवयः। समुद्र इव तडागः। एतानि षट् प्रमाणानि त्रिषु=दृष्टादिष्वन्तर्भूतानि। तत्रानुमाने तावदर्थापत्तिरन्तर्भूता। सम्भवाऽभावप्रतिभैतिह्योपमानाश्चाप्तवचने। तस्मात्त्रिष्वेव सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्। तदाह—'तेन त्रिविधेन प्रमाणेन प्रमाणसिद्धिः'-भवतीति वाक्यशेषः। **प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।** प्रमेयं=प्रधानं, बुद्धिरहङ्कारः, पञ्चतन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि पञ्चविंशतितत्त्वानि 'व्यक्ताव्यक्तज्ञाः' त्रिविधं प्रमाणमुक्तम्॥ ४॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[तृतीय कारिका में प्रतिज्ञा रूप से सांख्यसम्मत पदार्थों का नाम संकीर्तन हो चुका है लेकिन पूर्वोक्त पदार्थों (प्रमेयों) के विशेष स्वरूप का प्रतिपादन करने से पूर्व उनकी सत्ता सिद्ध हो जाना आवश्यक रहता है। क्योंकि प्रमाण के आधार पर प्रमेय की सिद्धि होती है इसलिये सांख्यस्वीकृत 'प्रमाण-मीमांसा' प्रस्तुत हो रही है।]

त्रिविध प्रमाणः—जिस इन्द्रिय[1] का जो विषय[2] होता है, वह इन्द्रिय

---

१. ज्ञानकर्मसाधनमिन्द्रियम्।
२. चक्षुरादिग्राह्यः। गोचरः। विषिण्वन्ति विषयिणमनुबध्नन्ति, स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्तीति यावत् विषयाः (सां. त. कौ. पृ. ४५), भोगसाधनं विषयः।

उसी विषय को ग्रहण करती है। अर्थात् इन्द्रिय और उसका विषय निश्चित है जैसे श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है, अतः वह शब्द को ग्रहण करती है। इसी भांति त्वगिन्द्रिय स्पर्श को, चक्षुरिन्द्रिय रूप को, जिह्वेन्द्रिय रस को तथा घ्राणेन्द्रिय गन्ध को ग्रहण करती है। इन्द्रियों का यही स्वविषयग्रहण 'प्रत्यक्ष' (दृष्ट) कहलाता है। आचार्य गौडपाद ने यहां 'अनुमान' प्रमाण के विषय में कुछ नहीं कहा। इसका कारण यह हो सकता है कि आगे अनुमान प्रमाण के विषय में विशेष विचार किया ही जायगा, अतः इसको यहां छूना ठीक नहीं समझा। जिन पदार्थों का ज्ञान कराने में प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण असमर्थ रहते हैं, उन पदार्थों का ज्ञान कराने में आगम प्रमाण प्रवृत्त होता है। जैसे--देवताओं के सम्राट् इन्द्र हैं, उत्तर दिशा में कुरु है, स्वर्ग में अप्सराएं रहती हैं इत्यादि आगम प्रमाण से ग्राह्य हैं। आगमप्रमाण शब्दश्रवणपुरःसर होने से इसमें वक्ता का स्थान मुख्य है। वक्ता, आप्त होना चाहिये क्योंकि आप्त-पुरुष के शब्द को सुनकर श्रोता को जो शाब्दबोध होता है, वह यथार्थ होता है। आचार्य गौडपाद ने आप्तपुरुष के स्वरूप का परिचय कराने के लिये एक श्लोक भी उद्धृत किया है। श्लोक का भावार्थ है--'आप्तवचन को ही आगम (शास्त्र) कहते हैं। आप्त वह है, जिसके चिरागत रागादि मल (दोष) नष्ट हो चुके हैं। रागादि दोष के कारण व्यक्ति झूठ बोलता है। कारण (रागादि) न रहने से कार्य (झूठ) का न होना स्वाभाविक है। सङ्ग (आसक्ति) दोष से रहित होकर जो अपने कर्तव्य के प्रति तत्पर रहता है तथा जो विद्वानों द्वारा सर्वदा वन्दनीय होता है, वह आप्त समझा जाता है। इस प्रकार अतिसंक्षेप से त्रिविध प्रमाणों के विषय में कहा गया।

अर्थापत्ति आदि अतिरिक्त प्रमाणों का त्रिविध प्रमाणों में अन्तर्भाव:—सांख्ययोगशास्त्र में उपर्युक्त तीन ही प्रमाण माने गये हैं। आचार्य गौडपाद अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत[1] अतिरिक्त प्रमाणों का इन तीन में ही अन्तर्भाव करते हैं। वे अतिरिक्त प्रमाण कौन से हैं? इस शङ्का के समाधानार्थ भाष्य-

---

१. प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्। प्रमाण-संख्या के विषय में दार्शनिकों की विप्रतिपत्ति—

चार्वाकास्तावदेकं द्वितयमपि पुनर्बौद्धवैशेषिकौ द्वौ।
भासर्वज्ञश्च सांख्यस्त्रितयमुदयनाद्याश्चतुष्कं वदन्ति॥
प्राहुः प्राभाकराः पञ्चकमपि च वयं तेऽपि वेदान्तविज्ञाः।
षट्कं पौराणिकास्त्वष्टकमभिदधिरे सम्भवैतिह्ययोगात्॥

(तं. सि. रत्ना.)।

कार ने मीमांसा आदि के उद्भावक जैमिनि आदि के अनुसार अतिरिक्त प्रमाणों का नाम तथा उनका स्वरूप निम्नाङ्कित प्रकार से प्रस्तुत किया है—

आचार्य जैमिनि आदि ने अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव, प्रतिभा, ऐतिह्य एवं उपमान ये छह अधिक प्रमाण माने हैं। अर्थापत्ति[1] प्रमाण दो प्रकार का है—एक है दृष्टार्थापत्ति और दूसरा है 'श्रुतार्थापत्ति। जहां एक पक्ष में आत्मभाव गृहीत होने पर दूसरे पक्ष में भी आत्मभाव का ग्रहण किया जाता है, वहां 'दृष्टार्थापत्ति' होती है। और देवदत्त दिन में नहीं खाता फिर भी स्थूल (हृष्ट-पुष्ट) दिखाई देता है, इससे कल्पना की जाती है कि वह रात्रि में खाता होगा—इस प्रकार का ज्ञान (अर्थापत्तिप्रमा) 'श्रुतार्थापत्ति' प्रमाण से होता है। एक प्रस्थ में चार कुडव होते हैं। (प्राचीनकाल में नाप-तौल की पद्धति आज से भिन्न थी[2]) अतः 'प्रस्थ' कहते ही जो चार कुडवों का सम्भावनात्मक ज्ञान होता है, वह 'सम्भव' प्रमाण से होता है। मीमांसकों के मत में अभाव[3] के चार भेद हैं—प्रागभाव, इतरेतराभाव, अत्यन्ताभाव तथा प्रध्वंसाभाव। एक काल में दो अवस्थाएं नहीं रह सकती हैं। जैसे देवदत्त में कौमार तथा यौवन अवस्था। अतः देवदत्त की कुमारावस्था के साथ जो यौवनावस्था का अभाव रहता है, वही 'प्रागभाव' कहलाता है। इसी प्रकार यौवनावस्था के समय वृद्धावस्था 'प्रागभाव'—स्थानीय होती है। जहां परस्पर एक में दूसरे का अभाव रहता है, वहां 'इतरेतराभाव' होता है। जैसे—घट में पट का और पट में घट का अभाव 'इतरेतराभाव' रूप है। पदार्थ की

---

१. (क) तत्रोपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनमर्थापत्तिः। येन विना यदनुपपन्नं तत्तत्रोपपाद्यम्, यस्याभावे यस्यानुपपत्तिस्तत्तत्रोपपादकम् (वे. प. पृ. १७६)।
(ख) 'अर्थस्य आपत्तिःअर्थापत्तिः ऐसा षष्ठीतत्पुरुषसमास करने पर 'अर्थापत्ति शब्द का 'कल्पना' अर्थ होने से अर्थापत्तिप्रमारूप अर्थ होता है। उसी शब्द की 'अर्थस्य आपत्तिः यस्मात् तत्' बहुव्रीहि समास से व्युत्पत्ति मानी जाय तो 'अर्थापत्ति प्रमाण' अर्थ होता है। इस प्रकारप्रवृत्ति-निमित्त का भेद होने से एक ही अर्थापत्ति शब्द के प्रमा और प्रमाण ये दो अर्थ हो सकते हैं।

२ 'पलं प्रकुञ्चकं मुष्टिः कुडवस्तच्चतुष्टयम्।

चत्वारः कुडवाः प्रस्थश्चतुः प्रस्थमथाढकम् ॥
अष्टाढको भवेद्द्रोणो द्विद्रोणः शूर्पं उच्यते।
सार्द्धशूर्पो भवेत् खारी द्विद्रोणा गोण्युदाहृता ॥
तामेव भारं जानीयाद् वाहो भारचतुष्टयम्'

(अ. को. २।९।८८ तट्टीकायां भरतस्य वचनम्)

३. (भू+भावे घञ्, नञ् समासः = अभावः), गतो भावोऽभावम्-मृच्छ १ मरणं, असत्ता इति विश्वमेदिनी। द्रव्यादिपट्भिन्नः अभावः।

अत्यन्त असत्ता होने पर 'अत्यन्ताभाव' होता है। जैसे—गधे के सींग, वन्ध्या का पुत्र, आकाश का कुसुम आदि उदाहरणों में क्रमशः सींग, पुत्र एवं गगनीय कुसुम की स्थिति वास्तविक जगत् में न होने से वे 'अत्यन्ताभाव'—स्थानीय हैं। पदार्थ के नष्ट होने पर 'प्रध्वंसाभाव' होता है। 'प्रध्वंसाभाव' का अपर पर्याय 'सर्वाभाव' है। जैसे—पट के जल जाने पर उसकी प्रध्वंसाभाव अवस्था आती है। अथवा धान को सूखा देखकर वृष्ट्यभाव अनुमित होता है। यहां पल्लवित धान्य की शुष्कावस्था से उसका 'प्रध्वंसाभाव' कहा गया है। इस प्रकार अभाव के चार भेद हैं। 'प्रतिभा'[1] का अर्थ—जानने वालों का ज्ञान है। जैसे–विन्ध्यपर्वत से दक्षिण और सह्य पर्वत से उत्तर की ओर जो भूभाग; समुद्र-पर्यन्त विस्तीर्ण है, वह अत्यन्त मनोरम है, ऐसा कहने अथवा सुनने पर उस भूभाग के विषय में अनुभव होता है-उस प्रदेश में अनेक शोभनीय गुण विद्यमान हैं-वह 'प्रतिभा प्रमाणजन्य है। परम्परा से चली आ रही किंवदन्तियों का आधार 'ऐतिह्य'[2] प्रमाण होता है। जैसे–इस वृक्ष पर यक्ष रहता है। गौ के समान गवय होता है' तथा 'समुद्र के समान तालाब होता है' इस प्रकार का ज्ञान (उपमित्यात्मक ज्ञान) जिस प्रमाण के द्वारा होता है, उसे 'उपमान'[3] प्रमाण कहते हैं। इस प्रकार अन्य दार्शनिकों द्वारा मान्य त्रिविधातिरिक्त प्रमाणों के विषय में कहा गया।

अब विचारणीय यह है, क्या ये पृथक् प्रमाण हैं ? उत्तर है—नहीं। इनका त्रिविध प्रमाणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे––अर्थापत्ति, अनुमान से पृथक् नहीं है, वह उसी के अन्तर्गत है। सम्भव, अभाव, ऐतिह्य एवं उपमान प्रमाण शब्द प्रमाण से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार तीन में ही अन्य समस्त प्रमाणों के (समाविष्ट) हो जाने से सांख्यसम्मत त्रिविधप्रमाणवाद[4] सुस्थिर होता है।

प्रमाण-निरूपण की आवश्यकता:—'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' इस अंश द्वारा 'प्रमाण–निरूपण की आवश्यकता बतलाई गई है। प्रमाण के द्वारा

---

१. प्रतिभाति शोभते इति प्रतिभा। यद्यपि नवनवोन्मेषशालिनीप्रज्ञायां प्रतिभा शब्दः काव्यशास्त्रे प्रसिद्धः तथाप्यत्र सा प्रमाणरूपेण गृह्यते।

२. पारम्पर्य्योपदेशः, इतिह अर्थे ऐतिह्यः, शब्दः शोभते।

३. उपमितिकरणम् अर्थात् सादृश्यज्ञानकरणमुपमानम्। प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् (न्या. सू. १।१।६)।

४. न चैकप्रमाणेन सर्वेषां तत्त्वानां सिद्धिः सम्भवति तथा च प्रमाणबहुत्वमुचितम्। तत्र कानि प्रमाणानि कियन्ति चेति…प्रमाणं त्रिविधमिष्टमित्यर्थः (नारायणकृत चन्द्रिका पृ. ५)।

पदार्थ का ज्ञान होता है। अतः पदार्थज्ञान से पूर्व प्रमाणज्ञान आवश्यक रहता है। यही कारण है कि सांख्यसम्मत पदार्थों का नामसंकीर्तन कर (उनके विषय में अधिक कहने से पूर्व) महर्षि ईश्वरकृष्ण 'प्रमाण-चर्चा' की ओर प्रवृत्त हुए। सांख्यसम्मत कुछ पदार्थ प्रत्यक्षसाध्य, कुछ अनुमानसाध्य तथा कुछ आगम-साध्य हैं ॥ ४ ॥

प्रमाण-लक्षण

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥ ५ ॥

अन्वय :—प्रतिविषयाध्यवसायः दृष्टम् , लिङ्गलिङ्गिपूर्वकं (यत्) अनुमानम् , तत् त्रिविधम् आख्यातम् , आप्तश्रुतिः तु आप्तवचनम् ॥ ५ ॥

कारिकार्थः—इन्द्रिय के माध्यम से विषय का निश्चयात्मक ज्ञान कराने वाला दृष्ट = प्रत्यक्ष प्रमाण होता है।[1] लिङ्गलिङ्गिपूर्वक[2] अर्थात् व्याप्तिभाव-सम्बन्धपूर्वक जो अनुमानप्रमाण[3] होता है, वह तीन प्रकार का है—पूर्ववत् , शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट, ऐसा सांख्यशास्त्र में कहा गया है। आप्तपुरुष की श्रुति (वाक्यश्रवण) पूर्वक होने वाला ज्ञान, आगम प्रमाण का फल है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'प्रतिविषयाऽध्यवसाय' दृष्ट (प्रत्यक्ष) प्रमाण का लक्षण, 'लिङ्गलिङ्गिपूर्वक' अनुमानप्रमाण का लक्षण तथा 'आप्तश्रुति', आगमप्रमाण का लक्षण है ॥ ५ ॥

भाष्यम्—तस्य किं लक्षणम्? एतदाह—प्रतिविषयेषु=श्रोत्रादीनां शब्दादि-विषयेषु अध्यवसायो दृष्टम्, प्रत्यक्षमित्यर्थः। त्रिविधमनुमानमाख्यातम्। पूर्व-वत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टं चेति। पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववत्। यथा मेघोन्नत्या वृष्टिं साधयति, पूर्वं दृष्टत्वात्। शेषवद्यथा—समुद्रादेकं जललवं लवणमासाद्य शेषस्याप्यस्ति लवणभाव इति। सामान्यतोदृष्टं—देशान्तराद्देशान्तरं दृष्टं गतिमत्चन्द्रतारकं चैत्रवत्। यथा चैत्रनामानं देशान्तराद्देशान्तरं प्राप्तमवलोक्य 'गतिमानयम्' इति, तद्वच्चन्द्रतारकमिति। तथा पुष्पिताऽऽम्रदर्शनादन्यत्र पुष्पिता आम्रा इति सामान्यतोदृष्टेन साधयति। एतत्सामान्यतोदृष्टम्। किञ्च तल्लिङ्ग-

---

१. अक्षमिन्द्रियं प्रतीत्य यदुत्पद्यते ज्ञानं तत् प्रत्यक्षं दृष्टमुच्यते, (मा. वृ. पृ. १०)।

२. अनुमानं च लिङ्गलिङ्गिनोः संबन्धदर्शनात्—(न्या. सू. १।१।५)

३. कमपि हेतुमन्वीक्ष्य तस्य हेतोः पश्चान्मीयत इत्युमानम्। यथा धूमं हेतुमन्वीक्ष्य महानस इव पूर्वं वह्निदर्शनादग्नेरस्तित्वं साध्यत इत्युमानम्—(मा. वृ. पृ. १०-११)।

लिङ्गिपूर्वकमिति। तत्=अनुमानं लिङ्गपूर्वकं—यत्र लिङ्गेन लिङ्गी अनुमीयते, यथा--दण्डेन यतिः। लिङ्गिपूर्वकं च-यत्र लिङ्गिना लिङ्गमनुमीयते, यथा-दृष्ट्वा यतिमस्येदं त्रिदण्डमिति। आप्तश्रुतिराप्तवचनं च आप्ताः=आचार्या ब्रह्मादयः, श्रुतिर्वेदः आप्ताश्च, आप्तश्रुतिः तदुक्तम्-आप्तवचनमिति। एवं त्रिविधं प्रमाणमुक्तम् ॥ ५ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[दर्शनजगत् में यह प्रणाली प्रचलित है कि पहिले भेद-प्रभेद के साथ किसी पदार्थ का नाममात्र गिनाया जाता है। तदनन्तर उनके विशेष स्वरूप पर विचार किया जाता है। उक्त प्रणाली के अनुसार यहां भी चतुर्थ कारिका द्वारा प्रमाणों के भेदों का निर्देश कर ईश्वरकृष्ण कारिका द्वारा उनका लक्षण प्रस्तुत कर रहे हैं]

त्रिविध प्रमाणों का स्वरूपः—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा त्वक्—ये पांच ज्ञानेन्द्रियां क्रमशः अपने-अपने रूप, शब्द, गन्ध, रस एवं स्पर्श विषय को ग्रहण करती हैं। इन्द्रियों द्वारा तत्-तत् विषयों का जो अध्यवसायात्मक ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्षप्रमाणजन्य है।

अनुमानप्रमाण के प्रथम भेद 'पूर्ववत्'[1] में कारण को देखकर कार्य का अनुमान किया जाता है। जैसा कि नाम से भी स्पष्ट है, जिसका पूर्व (कारण) विद्यमान है, उसे पूर्ववत् कहते हैं। मेघ को देखकर वर्षाविषयक अनुमिति ज्ञान 'पूर्ववत्' अनुमान से होता है। क्योंकि पूर्वकाल में देखा जा चुका है कि बादल आने पर वर्षा हुई थी। 'शेषवत्'[2] अनुमान 'पूर्ववत्' अनुमान के ठीक विपरीत है। इसमें कार्य से कारण अनुमित होता है। जैसे समुद्र के किञ्चित् जल को हाथ में लेकर चखने पर यदि वह खारा अनुभूत होता है तो अवशिष्ट अर्थात् समस्त जल में खारापन (क्षारत्व) अनुमित होता है। जहां कार्य तथा कारण से अतिरिक्त साधन(लिङ्ग) द्वारा अनुमान किया जाता है, वहां सामान्यतोदृष्ट[3] अनुमान होता है। एक देश में स्थित पदार्थ को यदि व्यक्ति दूसरे देश में भी देखता है तो उसे अन्यत्र दृष्ट पदार्थ की गतिशीलता अनुमित होती है। जैसे भिन्न-भिन्न देशवृत्तिता से तारे गतिशील अनुमित होते हैं, चैत्र की भांति। इसी प्रकार किसी एक आम्र-वृक्ष

---

१. पूर्ववदनुमानस्य लक्षणम्—'तत्रैकम् दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयं यत्तत्पूर्ववत्—(सां. त. कौ. पृ. ५८)।

२. शिष्यते परिशिष्यते इति शेषः स एव विषयतया यस्याऽस्त्यनुमानज्ञानस्य तच्छेषवत्—(सां. त. कौ. पृ. ५७)।

३. अपरं च वीतं सामान्यतोदृष्टमदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयम् (सां. त. कौ. पृ. ५८)।

में मञ्जरी (बौर) का अवलोकन कर सामान्यतः अन्य सभी आम्र-वृक्षों में मञ्जरी छा जाने की जो सामान्यतः अनुमिति होती है, वह सामान्यतोदृष्ट प्रमाण का फल है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण के त्रिविध भेदों को बतलाकर आचार्य गौडपाद अनुमान प्रमाण के लक्षण पर विचार करते हैं—इनका कहना है कि लिङ्गपूर्वक अथवा लिङ्गिपूर्वक अनुमान प्रवृत्त होता है। जहां लिङ्ग से लिङ्गी का अनुमान किया जाता है उसे लिङ्गपूर्वक अनुमान समझा जाता है। दण्ड एवं संन्यासी में अविनाभावसम्बन्ध (व्याप्तिसंबन्ध) रहने के कारण दण्ड रूप लिङ्ग से संन्यासी रूप लिङ्गी अनुमित होता है। लिङ्गिपूर्वक अनुमान में इसके ठीक विपरीत संन्यासी को देखकर उसके दण्ड का अनुमान किया जाता है।

ब्रह्मा आदि आचार्य 'आप्त' कहे जाते हैं और वेद को श्रुति कहते हैं। इस प्रकार 'आप्ताश्च श्रुतिश्च आप्तश्रुतिः। 'आप्तश्रुति' को ही 'आप्तवचन' शब्द से कहा गया है। 'आप्तश्रुति' आगमप्रमाण का लक्षण है। इस लक्षण के अनुसार वेद तथा तन्मूलक श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण इत्यादि वाक्यजनित ज्ञानों का भी यथार्थत्व होने से उनका शब्द प्रमाण में एकत्रीकरण हो जाता है और अयथार्थ होने से बौद्धादि वाक्यों का निष्कासन हो जाता है। इस प्रकार त्रिविध प्रमाणों[1] पर विचार किया गया ॥ ५ ॥

प्रमाणविषय विवेचन

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् ।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्सिद्धम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—सामान्यतोदृष्टात् अनुमानात् तु अतीन्द्रियाणां प्रतीतिः, तस्मादपि असिद्धं परोक्षं च आप्तागमात् सिद्धम् ॥ ६ ॥

कारिकार्थः—सामान्यतोदृष्ट अनुमान से अतीन्द्रिय[2] (इन्द्रियगोचर) पदार्थों का ज्ञान होता है और अनुमान से जिन पदार्थों की सिद्धि नहीं हो पाती है, वे परोक्ष[3] पदार्थ आगमप्रमाण से जाने जाते हैं ॥ ६ ॥

---

१. त्रिविधप्रमाणेभ्यः जायमानायाः प्रमायाः (पौरुषेयबोधस्य) स्वरूपम्—
पौरुषेयो बोध इत्यनेन न बोधस्य पुरुषनिष्ठत्वमाख्यायते येन प्रमातृत्वादिधर्मेण पुरुषस्य परिणामित्वं स्यादपितु बुद्धौ प्रतिबिम्बित्वेन तत्तादात्म्यापत्त्या पुरुषस्य ज्ञानादिमत्त्वोपचारात् पौरुषेय इत्यभिधीयते। एवं च चित्चित्तयोरभेदग्रहात् पुरुष उपचर्यमाणोऽपि वस्तुतः बुद्धिवृत्त्यात्मक एव बोधो, न पुरुषधर्म इति—(विद्वत्तोषिणीकाराः)

२. इन्द्रियजन्यलौकिकप्रत्यक्षविषयत्वमतीन्द्रियत्वम् अथवा इन्द्रियमतिक्रान्तमतीन्द्रियम् ।

३. अक्ष्णोः परं परोक्षम् असाक्षात्, अप्रत्यक्षम् ।

भाष्यम्—तत्र केन प्रमाणेन किं साध्यम् ? उच्यते—सामान्यतोदृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणाम्=इन्द्रियाण्यतीत्य वर्तमानानां प्रतीतिः सिद्धिः प्रधानपुरुषावतीन्द्रियौ सामान्यतोदृष्टेनानुमानेन साध्येते, यस्मान्महदादिलिङ्गं त्रिगुणं यस्येदं त्रिगुणं कार्यं तत् प्रधानमिति। यतश्चाऽचेतनं चेतनमिवाभाति अतोऽधिष्ठाता पुरुष इति। व्यक्तं प्रत्यक्षसाध्यम्। तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्सिद्धम्। यथेन्द्रो देवराजः, उत्तराः कुरवः, स्वर्गेऽप्सरस इति परोक्षमाप्तवचनात् सिद्धम् ॥६॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[चतुर्थ कारिका में यह प्रतिज्ञा की गई थी कि प्रमेयसिद्धि के लिये ही दर्शनजगत् में प्रमाण को आवश्यक माना गया है। प्रस्तुत कारिका में उक्त प्रतिज्ञा के अनुसार किस प्रमाण से किस प्रमेय की सिद्धि (प्रतीति=ज्ञान) होती है—इस पर अतिसंक्षेप एवं सामूहिक रूप से प्रकाश डाला जा रहा है।]

वे पदार्थ; जो अतीन्द्रिय हैं, सामान्यतोदृष्ट अनुमान से अनुमित होते हैं। जैसे—सांख्याभिमत प्रधान एवं पुरुष प्रत्यक्षगम्य नहीं हैं। ये अतीन्द्रिय होने से अनुमानगम्य हैं। यही 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है। जिस प्रकार पुत्र को देखकर पिता का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार यहां त्रिगुणात्मक महदादि कार्यों को देखकर उनका कारण 'प्रधान' अनुमित होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण का उद्देश्य व्यक्त (इन्द्रियगोचर) पदार्थों का ज्ञान कराना है। जिन अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान कराने में अनुमान प्रमाण समर्थ नहीं होता है, वे परोक्षपदार्थ आगम प्रमाण से जाने जाते हैं। इन्द्र का राजत्व, अप्सराओं की स्वर्गस्थिति तथा कुरुदेश की उत्तरवर्त्तिता—ये परोक्ष पदार्थ आगम प्रमाण के विषय हैं। इस प्रकार सामान्यरूप से प्रमाणों के विषयों (प्रमेयों) का विभाजन किया गया। ६ ॥

प्रत्यक्ष न हो सकने में निमित्त

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥ ७ ॥

अन्वयः—अतिदूरात्, सामीप्यात्, इन्द्रियघातात्, मनोऽनवस्थानात्, सौक्ष्म्यात्, व्यवधानात्, अभिभवात्, समानाभिहारात् च (पदार्थस्य प्रत्यक्षयोग्यता अभिभूयते) ॥ ७ ॥

कारिकार्थः—अत्यन्त दूर, अत्यन्त समीप, इन्द्रिय शैथिल्य (विकलता),

मनश्चाञ्चल्य, अत्यन्तसमीप, व्यवधान, अभिभव तथा समानजातीय में सम्मिश्रण होने के कारण प्रत्यक्षयोग्य पदार्थ भी दिखलाई नहीं पड़ता है ॥ ७ ॥

भाष्यम्—अत्र कश्चिदाह–प्रधानं, पुरुषो वा नोपलभ्यते, यच्च नोपलभ्यते लोके तन्नास्ति, तस्मात्तावपि न स्तः। यथा द्वितीयं शिरः, तृतीयो बाहुरिति। तदुच्यते—अत्र सतामप्यर्थानामष्टधोपलब्धिर्न भवति। तद्यथा—१ इह सतामप्यर्थानामतिदूरादनुपलब्धिर्दृष्टा। यथा—देशान्तरस्थानां चैत्र-मैत्र-विष्णुमित्राणाम्। २ सामीप्याद्यथा—चक्षुषाञ्जनानुपलब्धिः। ३ इन्द्रियाभिघाताद्यथा—बधिरान्धयोः शब्द-रूपानुपलब्धिः। ४ मनोऽनवस्थानाद्यथा—व्यग्रचित्तः सम्यक्कथितमपि नावधारयति। ५ सौक्ष्म्याद्यथा—धूमोष्म-जल-नीहार-परमाणवो गगनगता नोपलभ्यन्ते। ६ व्यवधानाद्यथा—कुड्येन पिहितं वस्तु नोपलभ्यते। ७ अभिभवाद्यथा—सूर्यतेजसाभिभूता ग्रहनक्षत्रतारकादयो नोपलभ्यन्ते। ८ समानाभिहाराद्यथा—मुद्गराशौ मुद्गः क्षिप्तः, कुवलयामलकमध्ये कुवलयामलके क्षिप्ते, कपोतमध्ये कपोतो नोपलभ्यते, समानद्रव्यमध्याहृतत्वात्। एवमष्टधाऽनुपलब्धिः सतामर्थानामिह दृष्टा ॥ ७ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[आज का बुद्धि-जीवी मानव उसी पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार करने को तैयार है, जिसका उसे प्रत्यक्ष हो सके, तदतिरिक्त परोक्ष पदार्थों पर उसे विश्वास नहीं हो पाता है। अतः प्रत्यक्ष का विषय न होने से उसे प्रकृति, पुरुष इत्यादि पदार्थों की कल्पना अप्रामाणिक प्रतीत होती है। ईश्वरकृष्ण प्रस्तुत कारिका में—'प्रत्यक्ष का विषय न हो पाने से यदि पदार्थ असत् रूप माना जाय तो प्रत्यक्षयोग्य पदार्थ के भी किसी दोषवशात् न दिखाई पड़ने से उसका अभाव कहे जाने को अव्यवस्था (अतिप्रसङ्ग) उत्पन्न होगी, इस आशय को ध्यान में रखकर—प्रत्यक्ष के विघटक कारणों पर प्रकाश डालते हैं। एतावता ईश्वरकृष्ण प्रमाणत्रय से असिद्ध शशशृङ्ग, वन्ध्यापुत्र आदि पदार्थों को ही अलीक (मिथ्या) सिद्ध कर रहे हैं]

अतिदूरताः—प्रत्यक्षयोग्य पदार्थ का भी प्रत्यक्ष तभी हो पाता है, जब पदार्थ इन्द्रिय के समीप रहता है। सभी दार्शनिकों ने विषय के प्रत्यक्षार्थ इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को कारण स्वीकार किया है, भले ही उसके मुख्यसाधन अथवा गौणसाधन के विषय में उनका भिन्न-भिन्न मत है। अतः 'अतिदूरता' विषय के प्रत्यक्ष का विघटक कही जाती है। जैसे-समीप रहने पर दिखाई पड़ने वाले चैत्र, मैत्र आदि दूर देश में चले जाने पर चक्षुरिन्द्रिय के विषय नहीं बन पाते हैं।

अतिसमीपताः—'अतिदूरता' के ठीक विपरीत 'अतिसमीपता' भी पदार्थ-

प्रत्यक्ष की प्रतिबन्धिका है। जैसे अञ्जित-नेत्र स्वाधिकरणस्थ कज्जल को देख पाने में असमर्थ रहता है।

ऐन्द्रयिक दौर्बलता—अत्यन्त दूर अथवा अत्यन्त समीप न रह कर यदि पदार्थ प्रत्यक्ष होने की स्थिति में भी रहे तो भी उसे अन्ध पुरुष नहीं देख पाता है। इसी भांति क्षीण सामर्थ्य वाली श्रोत्रादि इन्द्रियां अपने-अपने शब्दादि विषय को ग्रहण करने में समर्थ नहीं रहती हैं।

मनस्-अनवधानता:—विषय-प्रत्यक्ष के विघटक उपर्युक्त तीनों कारण के न रहने पर भी एकाकी 'मनस्-अनवधानता' (मनश्चाञ्चल्य) विषय प्रत्यक्षार्थ बाधास्वरूप आ खड़ी होती है। फलतः इन्द्रियार्थसन्निकर्ष रहने पर भी विषय का बोध (प्रत्यक्ष) नहीं हो पाता है। जैसे—पुत्र की मृत्यु का समाचार सुनकर आफिस से भागता हुआ व्यक्ति समीप से निकले हुए अपने बन्धु को नहीं देख पाता है। मनस्-अनवधानता को यदि विषय-प्रत्यक्ष का मुख्यतम अवरोधक कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। इसीलिये व्यावहारिक अथवा पारमार्थिक किसी भी प्रकार की साधना के लिए दार्शनिकों ने सर्वप्रथम चित्त को एकाग्र बनाने का उपदेश किया है।

सूक्ष्मता:—दार्शनिकों ने विषय-प्रत्यक्ष के लिए विषयगत उद्भूतरूप तथा महत्परिमाण को कारण माना है। अतः सूक्ष्मपरिमाण वाले पदार्थ—जिनका महत्परिमाण नहीं है—का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। तेज आदि तत्त्वों का सूक्ष्मतम अंश 'परमाणु' कहलाता है। धूम, ऊष्म, जल, हिम आदि के परमाणु आकाश में उड़ते हुए भी दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।

व्यवधानता:—'व्यवधान' का अर्थ बाधा या रुकावट है। भित्ति रूप व्यवधान के कारण दूसरे कक्ष में पड़ी वस्तु दिखलाई नहीं पड़ती। इसी प्रकार भूगर्भ में व्यवहित हीरा, सोना आदि बहुमूल्य पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।

अभिभवता:—ऊपर कहा जा चुका है कि पदार्थ का प्रत्यक्ष तभी हो पाता है, जब उसमें महत्परिमाण एवं उद्भूतरूप निहित रहता है। जब पदार्थ का उद्भूतरूप किसी अन्य बलवान् कारण से शिथिल हो जाता है, तब उस अनुद्भूत पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। जैसे रात्रि में दिखलाई पड़ने वाले अनभिभूत चन्द्र, नक्षत्र आदि दिन के समय तेजस्वी सूर्य से अभिभूत[1] हो जाने के कारण दिखलाई नहीं पड़ते हैं।

---

१. अभिभवो नाम—बलवत्सजातीयसंबन्धः यथा सुवर्णे तेजो रूपस्याभिभवः। तदुक्तम्—भूसंसर्गवशाच्चान्यरूपं नैव प्रकाशते इति—(वै. उ. २।१।७)। अथवा बलवत्सजातीयग्रहणकृतमग्रहणम्। यथा सुवर्णगतरूपवृत्तिशुक्लत्वभास्वरत्वयोरभिभवः। सुवर्णगतरूपस्याप्यभिभव इत्येके (वै. उ. ४।१।९)। पराजयप्राप्तिरभिभवः इति काव्यज्ञा वदन्ति।

सम्मिश्रणता :--विषय-प्रत्यक्ष के लिये पदार्थ का पृथक् अस्तित्व (अमिश्रितरूप) भी आवश्यक रहता है। अतः 'सम्मिश्रणता' वाधास्वरूप कही गई है। जैसे गंगा और यमुना नदी के दो पृथक्-पृथक् जलविंदुओं को मिला देने पर उनकी पृथक्-पृथक् प्रतीति नहीं हो पाती है। इसी प्रकार मूंग, कमल, आंवला एवं कबूतरों के अपने-अपने समूह में छोड़े गये (मिलाये गये) मूंग आदि को पहचान पाना कठिन हो जाता है। क्योंकि सदृश पदार्थों में मिल जाने के कारण उनका विशिष्ट (पृथक्) अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

उपर्युक्त वर्णन से यह निश्चित हुआ कि प्रत्यक्ष के विघटक[1] उक्त आठ कारणों से जब प्रत्यक्षयोग्य पदार्थ का भी प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है, तब अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में तो कहना ही क्या। अतः पदार्थ के न दिखलाई पड़ने में यदि उपर्युक्त कोई विघटक हेतु हो तो उस पदार्थ का अभाव नहीं समझना चाहिये ॥७॥

प्रकृति-प्रत्यक्ष का विघटक हेतु

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ॥ ८ ॥

अन्वय :—सौक्ष्म्यात् तदनुलब्धिः न अभावतः कार्यतः तदुपलब्धेः। तच्च कार्यं महदादि (यः) प्रकृतिस्वरूपं विरूपं च [अस्ति] ॥ ८ ॥

कारिकार्थ :—प्रकृति (पुरुष भी) अत्यन्त सूक्ष्म[2] तत्त्व है, इसलिए उसका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। ऐसा नहीं है कि असत् होने से प्रकृति की उपलब्धि नहीं हो पाती है, क्योंकि उसके कार्य के आधार पर प्रकृति का अस्तित्व अनुमित

---

१. चरकसंहितायां निर्दिष्टानि यानि प्रत्यक्षविघटकानि तानि निम्नाङ्कितानि सन्ति—'सताञ्च रूपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात् करणदौर्बल्यात् मनोऽनवस्थानात् समानाभिहारादभिभवादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः—(च. सू. ११)।

२. न तस्याः सूक्ष्ममप्यस्ति यद्गात्रे रूपसम्पदा।
नियुक्ता यत्र वा दृष्टिर्जे सज्जति निरीक्षताम् ॥ महा. १।२१३।१५ शब्दरत्नावल्यां 'सूक्ष्म' शब्दस्य संग्रहीतानि अर्थानि—
अल्पे स्तोके क्षुल्लसूक्ष्म क्षुल्लकञ्च कृशं तनु।
दभ्रं खुल्ल खुल्लकञ्च स्त्रियां मात्रा त्रुटौ कणा।
पुमानणुर्लवो लेशः कणोऽपि च निगद्यते ॥" (शब्दरत्नावली)।

होता है। प्रकृति के कार्य[1] बुद्धयादि हैं। ये[2] कारणभूत प्रकृति से अभिन्न भी हैं और भिन्न भी हैं ॥ ८ ॥

भाष्यम्—एवं चाऽस्ति किमभ्युपगम्यते-प्रधानपुरुषयोरपि-एतयोर्वाऽनुपलब्धिः केन हेतुना, केन चोपलब्धिः ? तदुच्यते-सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः। प्रधानस्येत्यर्थः। प्रधानं सौक्ष्म्यान्नोपलभ्यते, यथाकाशे धूमोष्मजलनीहारपरमाणवः सन्तोऽपि नोपलभ्यन्ते। कथं तर्हि तदुपलब्धिः ?। 'कार्यतस्तदुपलब्धिः'। कार्यं दृष्ट्वा कारणमनुमीयते। अस्ति प्रधानं कारणं—यस्येदं कार्यम्। बुद्धिरहङ्कारः' पञ्चतन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चमहाभूतान्येव तत्कार्यम्। तच्च कार्यं-'प्रकृतिविरूपम्'। प्रकृतिः = प्रधानं, तस्य विरूपं = प्रकृतेरसदृशम्। सरूपं च। समानरूपं च। यथा लोकेऽपि पितुस्तुल्य इह पुत्रो भवत्यतुल्यश्च। येन हेतुना तुल्यमतुल्यं, तदुपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥ ८ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थ :—पूर्वपक्षी का कहना है कि प्रत्यक्ष के विघटक आठ हेतु तो समझ में आ गये हैं। लेकिन यह बताइये कि प्रधान की अनुपलब्धि में कौन हेतु है और किस प्रमाण से उसकी सत्ता स्वीकार की गई है ?

प्रस्तुत कारिका में प्रधान तत्त्व से संबन्धित 'सदसद्वा' संशय का निराकरण किया गया है। कारिका में आया 'तत्' पद 'प्रकृति' का परामर्शक है। जिस प्रकार आकाश में उड़ते हुए धूम, ऊष्मा, जल आदि के परमाणु[3] दृष्टिपथ में नहीं आते हैं, क्योंकि वे सूक्ष्म हैं। उसी प्रकार प्रकृति के प्रत्यक्ष न होने में उसका अभाव नहीं, अपितु प्रकृतिगत सूक्ष्मता कारण है। एतावता यह निकला कि प्रकृति की सिद्धि में यद्यपि प्रत्यक्ष प्रमाण असमर्थ है, तथापि तदुपजीव्य अनुमान प्रमाण समर्थ है। आचार्य गौडपाद अब उपर्युक्त प्रतिज्ञा के अनुसार प्रकृति को अनुमान-गम्यता का उपपादन करते हैं—यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि कार्य एवं कारण में अविनाभावसम्बन्ध निहित है।[4] कार्य को देखकर कारण

---

१. क्रियते यत् तत् कार्यम्, कारणपश्चाद्भावि कार्यम्।

२. कार्यतेऽनेनेति कारणम्। कारणं हि तद्भवति यस्मिन् सति यद्भवति यस्मिंश्चासति यन्न भवति (न्या. वा. १ पृ. २४) शब्दान्तरेण 'येन विना यन्न भवति तत् कारणम्'।

३. परमः सर्वचरमकोऽणुः। पृथिव्यादिभूतचतुष्टयानां द्व्यणुकानामवयवः परमाणुः।
'अणुर्द्वौ परमाणू स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः।
आलार्करश्म्यवगतः खमेवानुपतन्नगात्' ॥ श्रीमद् भा. ३।११।४-५।

४. कार्योत्पत्तिनिश्चयेनाविनाभावो निश्चीयते। तदुत्पत्तिनिश्चयश्च कार्यहेत्वोः प्रत्यक्षोपलम्भानुपलम्भपञ्चकनिबन्धनः''' (सर्व. सं. पृ. बौद्ध. १७),
अयं च हेतुहेतुमद्भाव इत्यप्युच्यते।

तथा (जहां कारण प्रत्यक्षगम्य हो वहां) कारण को देखकर कार्य का अनुमान किया जाता है। प्रकृति की सत्ता उसके कार्य महदादि से अनुमित होती है। प्रकृति की वंशावली में बुद्धि, अहंकार, एकादश इन्द्रियां, पञ्चतन्मात्र एवं पञ्चमहाभूत-क्रमशः आते हैं। कार्य-कारण में भेदाभेद माना गया है। जिस प्रकार पुत्र कुछ अंशों में पिता की प्रतिमूर्ति (समान) होता है और कुछ अंशों में उससे भिन्न (असमान) होता है। उसी प्रकार प्रकृति के अनुमापक महदादि कार्य अपने कारण से भिन्न भी हैं और उससे अभिन्न भी हैं। एतावता प्रकृति की सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता ॥ ८ ॥

[सत्कार्यवाद]

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—कार्यं सत् (कथमिति जिज्ञासायां)—असदकरणात्, उपादान-ग्रहणात्, सर्वसम्भवाऽभावात्, शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावात् च ॥ ९ ॥

कारिकार्थः—कारण व्यापार के पूर्व भी कार्य, अपने कारण में निहित रहता है, (ऐसा क्यों? उत्तर है)—असत् पदार्थ की अभिव्यक्ति (उत्पत्ति) नहीं होती है। दूसरे शब्दों में असत् पदार्थ का कोई कारण नहीं होता है। तत्-तत् कार्य की उत्पत्ति के लिये व्यक्ति तत्-तत् कारण को ही ग्रहण करता है। किसी एक उपादान-कारण से समस्त कार्यों की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है। अपितु सुनिश्चित कारण से ही सुनिश्चित कार्य की अभिव्यक्ति होती है। जिस कारण में जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति निहित रहती है, उसी शक्त कारण से उसी शक्य कार्य को प्राप्त (ग्रहण) किया जाता है। कारण में पाये जाने वाले गुण उसके कार्य में भी अनु-प्रविष्ट रहने से कार्य-कारण में एक निश्चित संबन्ध दिखाई पड़ता है। एतावता उक्त पांच हेतुओं से कार्याभिव्यक्ति के पूर्व भी कारण में कार्य का अस्तित्व सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

भाष्यम्—यदिदं महदादिकार्यं तत् किं प्रधाने सत् उताहोस्विदसत्?। आचार्यविप्रतिपत्तेरयं संशयः। यतोऽत्र साङ्ख्यदर्शने सत्कार्यं, बौद्धादीनामसत्कार्यम्। यदि सत्, असन्न भवति। अथाऽसत् सन्न भवतीति विप्रतिषेधः। तत्राह—असद०—न सत्-असत्, असतोऽकरणं, तस्मात्सत्कार्यम्। इह लोकेऽसत्करणं नास्ति, यथा सिकताभ्यस्तैलोत्पत्तिः। तस्मात् सतः करणादस्ति प्रागुत्पत्तेः प्रधाने व्यक्तम्। अतः 'सत्कार्यम्'। किञ्चान्यत् उपादानग्रहणात्। उपादानं = कारणं, तस्य ग्रहणात्। इह लोके यो येनार्थी, स तदुपादानग्रहणं करोति। दध्यर्थी क्षीरस्य,

न तु जलस्य। तस्मात् सत्कार्यम्। इतश्च-सर्वसम्भवाभावात् सर्वस्य सर्वत्र सम्भवो नास्ति। यथा सुवर्णस्य रजतादौ, तृणपांशुसिकतासु। तस्मात् सर्वसम्भवाभावात् सत्कार्यम्। इतश्च, शक्तस्य शक्यकरणात्। इह कुलालः शक्तो मृद्दण्डचक्रचीवररज्जुनीरादिकरणम्, उपकरणं वा शक्यमेव घटं मृत्पिण्डादुत्पादयति, तस्मात् सत्कार्यम्। इतश्च, कारणभावाच्च सत्कार्यम् कारणं यल्लक्षणमेव तल्लक्षणमेव कार्यमपि; यथा यवेभ्यो यवाः व्रीहिभ्यो व्रीहयः। यदाऽसत्कार्यं स्यात्ततः कोद्रवेभ्यः शाल्यः स्युः न च सन्तीति, तस्मात्—सत्कार्यम्। एवं पञ्चभिर्हेतुभिः प्रधाने महदादि लिङ्गमस्ति। तस्मात् सत उत्पत्तिर्नाऽसत इति॥ ९॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थ :—[अष्टम कारिका द्वारा यद्यपि आचार्य ईश्वरकृष्ण प्रकृति की सत्ता स्थापित (सिद्ध) कर चुके हैं, तथापि स्थाणुनिखननन्याय[1] से सांख्यजिज्ञासुओं के स्पष्ट-प्रतिपत्त्यर्थ वे नवीं से सोलहवीं कारिकापर्यन्त उक्त विषय को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करते हैं। इससे सांख्य के कतिपय अन्य सिद्धान्तों पर भी प्रकाश पड़ता है। प्रस्तुत कारिका सांख्य के सत्कार्यवाद की प्रतिष्ठापना के लिये है।]

प्रकृति में महदादि तत्त्वों की कारणता कही जाने से यह सन्देह उपस्थित होता है कि महदादि कार्य अपने कारण 'प्रधान' में 'सत्' रूप में हैं अथवा 'असत्' रूप में? कारण में कार्य के इस 'सदसद्वा' का संशय कार्याभिव्यक्ति के पूर्व अर्थात् कारण व्यापार से पूर्व की दृष्टि से समझना चाहिये। इस सन्दर्भ में सांख्यदार्शनिकों का अपना विशिष्ट सिद्धान्त है।[2] इन्होंने अन्य दार्शनिकों के कारणवाद पर सीधा प्रहार किया है। बौद्ध, वेदान्ती तथा नैयायिक आदि दार्शनिकों के यहां कार्य किसी न किसी रूप में असत् माना गया है। सांख्याचार्यों का दृढ विश्वास है कि सत् का कभी नाश (असत्त्व) नहीं हो सकता और असत् को कभी सत् रूप में परिणत नहीं किया जा सकता। अपने मत के पुष्ट्यर्थ ईश्वरकृष्ण ने इस कारिका में पांच हेतुओं की उद्भावना की है। हेतु इस प्रकार हैं—

---

१. 'स्थूणा स्तम्भेऽपि वेश्मनः, इत्यमरः। अपि शब्दाल्लोहप्रतिमायामपि। स्थूणा यथाऽसकृत्सञ्चाल्यनिखनने क्रियमाणे दृढा भवति तथोत्तरग्रन्थेन प्रागुपपादिताऽर्थदार्ढ्यं भवतीत्यर्थः।

२. अत्र कार्योत्पत्तिप्रकारो मतभेदेन प्रसरति—

(१) असतः सञ्जायत इति सौगताः संगिरन्ते। (२) सतोऽसज्जायत इति नैयायिकादयः। (३) सतो विवर्तं (अधिष्ठानज्ञानेन निवर्त्यम्) कार्यजातम् न वस्तुसदिति मायावादिनो वेदान्तिनः, (४) सतः सज्जायत इति सांख्याः—

(सर्व. सं. पृ. ३२१ सांख्य)।

असदकरणात् :—वास्तविक जगत् में जिसका अस्तित्व है, वह 'सत्' तथा तद्भिन्न पदार्थ 'असत्'[1] माना जाता है। दूसरे शब्दों में असत् 'अत्यन्ताभाव' स्थानीय है। कारणव्यापार[2] के पूर्व यदि कार्य, कारण में असत् रहे तो कारणव्यापार के द्वारा उसे कथमपि सत् नहीं बनाया जा सकता है। जैसे-बालु से तेल की अभिव्यक्ति (प्राप्ति) किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती, क्योंकि बालु में तेल 'अत्यन्त असत्' है। अतः सिद्ध हुआ कि कारण की भांति कार्य भी सत् है। अतः प्रकृतिजात महदादि कार्य अपनी उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) के पूर्व, उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) के पश्चात् तथा लय (तिरोभाव)—तीनों अवस्थाओं में 'सत्' रूप हैं[3]। अन्तर इतना ही है कि वर्तमान काल में कार्य की सत्ता स्फुट रहती है तथा अनागत एवं अतीतकाल में अस्फुट रहती है।

उपादानग्रहणात् :—कारण के मुख्यतः दो भेद हैं—उपादानकारण तथा निमित्तकारण। नैयायिक 'उपादानकारण' को 'समवायिकारण' कहते हैं। बौद्धदार्शनिक 'निमित्तकारण' को 'सहकारिकारण' पुकारते हैं। निमित्तकारण उपादानकारण का सहायक होकर कार्योत्पत्ति के प्रति परम्परया कारण होता है। उभयकारणों में उपादानकारण प्रधान है। अतः उपादानकारण को लेकर 'सत्कार्यवाद' का स्थापक; द्वितीय हेतु उपन्यस्त हुआ है।

प्रत्येक व्यक्ति यह आसानी से समझ सकता है कि जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता रहती है, वह उसी के अनुसार (तदनुरूप) कारण को ग्रहण करता है। जैसे दध्यर्थी दूध को ही प्राप्त कर उसे जमाने की सोचता है। कोई भी अनुभवी व्यक्ति पानी भरे मटके (घट) को दधिरूप से प्राप्त करने का प्रयास नहीं करता है। इस प्रकार कार्यानुसार उपादान (कारण) के ग्रहण में नियमितता एवं सीमाबद्धता दिखलाई पड़ने से यह मानना अपरिहार्य हो जाता है कि कारणव्यापार के पूर्व भी कार्य कारण में सत् रूप में निहित रहता है।

सर्वसम्भवाभावात्—तीसरा हेतु यह है कि सभी प्रकार के कारणों से सभी प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति नहीं दिखलाई पड़ती, क्योंकि समस्त कारणों में समस्त कार्यों का अभाव रहता है। जैसे रजत, तृण, पांशु, तथा

---

१. 'असत्' शब्दः अत्र अविद्यमानाऽर्थे प्रयुक्तः। नहि ब्रह्मभिन्नवस्तु जडवर्गः असाधुरित्याद्यर्थे प्रयुक्तः।

२. व्यापारो नाम-'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्'- (न्या. म. १ पृ. २), करणजन्यत्वे सति करणजन्यफलजनकत्वम् इत्यर्थः- (म. प्र. १ पृ. ५)।

३. तस्माद् कारणव्यापारादूर्ध्वमिव ततः प्रागपि सदेव कार्यमिति—

(सां. त. कौ. पृ. ९४)।

सिकता आदि में सुवर्ण का अभाव रहने से 'रजतादि' सुवर्णोत्पत्ति के उपादान-कारण नहीं बन सकते। इस प्रकार निश्चित कारण से निश्चित कार्याभिव्यक्ति दिखलाई पड़ने से यह सिद्ध होता है कि सत् कारण अपने में अव्यक्त रूप से विद्यमान सत्कार्य को ही व्यापार द्वारा प्रकट (अभिव्यक्त = उत्पन्न) करता है।

शक्तस्य शक्यकरणात्:—जिसमें उत्पादन की सामर्थ्य निहित है, उसे शक्त[1], तथा जो उत्पन्न होने योग्य (उत्पाद्य) होता है, उसे 'शक्य' कहते हैं। जैसे शक्त मृत्तिका में शक्य घट को उत्पन्न करने की 'शक्ति'[2] निहित है। अतः कुम्भकार मृत्तिका से घट का निर्माण करता है। कार्य-कारण में 'शक्य-शक्त-सम्बन्ध' तभी हो सकता है, जब दोनों 'सत्' हों। एक के 'सत्' तथा दूसरे के 'असत्' रहने पर (दो असमानों में) संबन्ध नहीं होता है। अतः कार्य की 'सद्रूपता' सिद्ध होती है।

कारणभावाच्च :—जिस प्रकार का कारण होता है उसी प्रकार का कार्य भी देखने में आता है। जैसे जौ के बीज से जौ की उत्पत्ति तथा धान्य के बीज से धान्य की उत्पत्ति देखी जाती है। इससे सिद्ध है कि जौ-बीज में जौ-बालियां सूक्ष्म (अनभिव्यक्त) रूप में निहित रहती हैं, अन्यथा जौ-बीज से धतूरे का वृक्ष बढ़ता दिखलाई पड़ता। कार्यकारण की यह समानरूपता सत्कार्यवाद को पुष्ट करती है।

एवञ्च कारण व्यापार से पूर्व भी कार्य सत् है, यह बात ऊपर वर्णित अनेक प्रमाणों के द्वारा सुदृढ़ हो गई ॥ ९ ॥

[व्यक्त तथा अव्यक्त के भिन्न-भिन्न धर्म]

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ १० ॥

अन्वय :—व्यक्तं—हेतुमत्, अनित्यं, अव्यापि, सक्रियम्, अनेकम्, आश्रितं, लिङ्गं, सावयवं, परतन्त्रं (अस्ति)। अव्यक्तं—(एतद्) विपरीतं (अस्ति) ॥ १० ॥

कारिकार्थ :—व्यक्तवर्गान्तःपाती तत्त्वों का समूह उत्पत्तिशील[3] (हेतुमान), विनाशशील, संकोचशील (एकदेशीय), क्रियाशील, अनेकशील, हेत्वाश्रयशील, लयशील, सावयवशील तथा पराधीनशील है। व्यक्त की उपर्युक्त शीलताओं से अव्यक्त रहित है अर्थात् व्यक्त से भिन्न है ॥ १० ॥

---

१. शक्तिमदिति शक्तम् अर्थात् शक्तिविशिष्टं शक्तम् ।
२. शक्तिः कार्यजननसामर्थ्यविशेषः ।
३. शीलः स्वभावः । 'भविनी गुणनी शीलनं स्मृतम्' इति-(ब्रह्मवर्गे त्रिकाण्डशेषः) ।

भाष्यम्—'प्रकृतिविरूपं सरूपं च' (इति) यदुक्तं तत् कथमित्युच्यते-व्यक्तं महदादिकार्यं—(१) हेतुमदिति। हेतुरस्यास्ति हेतुमत् उपादानं, हेतुः, कारणं, निमित्तमिति पर्यायाः। व्यक्तस्य प्रधानं हेतुरस्ति, अतो हेतुमद्व्यक्तं भूतपर्यन्तम्। हेतुमद्बुद्धितत्त्वं प्रधानेन, हेतुमानहङ्कारो बुद्ध्या, पंचतन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि हेतुमन्त्यहङ्कारेण। आकाशः शब्दतन्मात्रेण हेतुमत्। वायुः स्पर्शतन्मात्रेण हेतुमान्। तेजो रूपतन्मात्रेण हेतुमत्। आपो रसतन्मात्रेण हेतुमत्यः। पृथिवी गन्धतन्मात्रेण हेतुमती। एवं भूतपर्यन्तं व्यक्तं हेतुमत्। किञ्चान्यत्–(२) अनित्यम्। यस्मादन्यस्मादुत्पद्यते, यथा–मृत्पिण्डादुत्पद्यते घटः, स चाऽनित्यः। किञ्च–(३) अव्यापि, असर्वगतमित्यर्थः। यथा प्रधानपुरुषौ सर्वगतौ, नैवं व्यक्तम्। किंचान्यत्–(४) सक्रियं, संसारकाले संसरति—त्रयोदशविधेन करणेन संयुक्तं सूक्ष्मशरीरमाश्रित्य संसरति, तस्मात् सक्रियम्। किंचान्यत् (५) अनेकं। बुद्धिरहङ्कारः, पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि, पञ्चमहाभूतानि चेति। किंचान्यत्–(६) आश्रितम्। स्वकारणमाश्रयते। प्रधानाश्रिता बुद्धिः, बुद्धिमाश्रितोऽहङ्कारः, अहङ्काराश्रितान्येकादशेन्द्रियाणि, पञ्चतन्मात्राणि च। पञ्चतन्मात्राश्रितानि पञ्चमहाभूतानि। किञ्च–(७) लिङ्गं लययुक्तं। लयकाले पञ्चमहाभूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते। तान्येकादशेन्द्रियैः सहाहङ्कारे। स च बुद्धौ। सा च प्रधाने लयं यातीति। तथा–(८) सावयवम्। अवयवाः = शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, तैः सह। किञ्च–(९) परतन्त्रं। नाऽऽत्मनः प्रभवति, यथा प्रधानतन्त्रा बुद्धिः, बुद्धितन्त्रोऽहङ्कारः, अहङ्कारतन्त्राणि तन्मात्राणीन्द्रियाणि च, तन्मात्रतन्त्राणि पञ्चमहाभूतानि च। एवं परतन्त्रं = परायत्तम्। व्याख्यातं व्यक्तम्।

अथोऽव्यक्तं व्याख्यास्यामः। विपरीतमव्यक्तम्। एतैरेव गुणैर्यथोक्तैर्विपरीतमव्यक्तम्। हेतुमद् व्यक्तमुक्तम्। न हि प्रधानात् परं किञ्चिदस्ति, यतः प्रधानस्यानुत्पत्तिः, तस्माद् (१) अहेतुमदव्यक्तम्। तथा–(२) अनित्यं च व्यक्तं, नित्यमव्यक्तमनुत्पाद्यत्वात्। नहि भूतानीव कुतश्चिदुत्पद्यत इत्यव्यक्तं प्रधानं (नित्यं)। किंचाव्यापि व्यक्तं, (३) व्यापि प्रधानं, सर्वगतत्वात्। सक्रियं व्यक्तम् (४) अक्रियमव्यक्तं, सर्वगतत्वादेव। तथानेकं व्यक्तम्। (५) एकं प्रधानं, कारणत्वात्। त्रयाणां लोकानां प्रधानमेकं कारणं, तस्मादेकं प्रधानम्। तदाश्रितं व्यक्तम्, (६) अनाश्रितमव्यक्तमकार्यत्वात्, न हि प्रधानात् किञ्चिदस्ति परं, यस्य प्रधानं कार्यं स्यात्। तथा व्यक्तं लिङ्गम्, (७) अलिङ्गमव्यक्तं, नित्यत्वात्। महदादिलिङ्गं प्रलयकाले परस्परं प्रलीयते, नैवं प्रधानं, तस्मादलिङ्गं प्रधानम्। तथा सावयवं व्यक्तं, (८) निरवयवमव्यक्तं। न हि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः प्रधाने सन्ति। तथा परतन्त्रं व्यक्तं, (९) स्वतन्त्रमव्यक्तं, प्रभवत्यात्मनः ॥ १० ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[सांख्यदार्शनिकों ने जड़ पदार्थों को दो भागों में विभक्त किया है—व्यक्त तथा अव्यक्त । प्रस्तुत कारिका में उक्त विभाजन के अनुसार उभयवर्गों के भिन्न-भिन्न धर्मों का व्याख्यान किया जा रहा है ।

'व्यक्ताव्यक्त'[1] पद का अर्थ तथा तत्तद्वर्गीय पदार्थों का नाम-संकीर्तन–कारण से कार्य की अभिव्यक्ति होने से कार्य को 'व्यक्त' तथा अनभिव्यक्त कारण को 'अव्यक्त' कहा जाता है । यद्यपि व्यक्त भी अपने कार्य की दृष्टि से 'अव्यक्त' है तथापि यहां मूलकारण अव्यक्त (जिसका कोई कारण नहीं है) की तुलना में समस्त कार्यसमुदाय 'व्यक्त' कहा जाता है । अव्यक्त—एकाकी प्रकृति है । व्यक्त—बुद्धि, अहंकार, पञ्चतन्मात्राएं एकादश-इन्द्रियां (पञ्च ज्ञानेन्द्रियां, पञ्च कर्मेन्द्रियां, तथा मन) तथा पञ्चमहाभूत हैं ।

व्यक्त के धर्म—'हेतुरस्यास्तीति हेतुमत्' अर्थात् जिसका हेतु होता है उसे 'हेतुमत्' कहते हैं । आचार्य गौडपाद ने 'उपादान, हेतु, कारण तथा निमित्त' शब्दों को पर्याय कहा है । इन्होंने कारण के दो विशेष रूप 'उपादान' तथा 'निमित्त' पर ध्यान न देकर उपादान और निमित्त शब्दों को 'कारण' अर्थ में सामान्यतः प्रयुक्त किया है । वस्तुतः कारिकागत 'हेतु' शब्द से उपादानकारण का ग्रहण होता है । इस प्रकार हेतुमान् पदार्थ उत्पत्तिशील तथा कार्यरूप सिद्ध होता है । यद्यपि अव्यक्त व्यक्तमात्र का हेतु है[1] तथापि साक्षात् कारण की दृष्टि से इतना विशेष ज्ञातव्य है कि—प्रधान की दृष्टि से बुद्धितत्त्व, बुद्धितत्त्व की दृष्टि से अहंकार, अहंकार की दृष्टि से एकादश-इन्द्रियां तथा पञ्चतन्मात्र एवं पञ्चतन्मात्र की दृष्टि से पञ्चमहाभूत हेतुमान् हैं । तन्मात्राओं में भी शब्दतन्मात्र की दृष्टि से आकाश, स्पर्शतन्मात्र की दृष्टि से वायु, रूपतन्मात्र की दृष्टि से तेज, रसतन्मात्र की दृष्टि से जल तथा गन्धतन्मात्र की दृष्टि से पृथ्वी हेतुमती है । व्यक्त पदार्थों के धर्म-प्रदर्शन में 'उत्पत्ति' धर्म को इसलिए सर्वप्रथम रखा गया है कि वह व्यक्तनिष्ठ अन्य धर्मों में प्रधान है । उत्पद्यमान् पदार्थ अनित्य होता है—इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्त अनित्य अर्थात् विनाशी[2] है । जैसे मृत्समुदाय से उत्पन्न घट अनित्य होता है । जिस पदार्थ की

---

१. सांख्यदर्शने व्यक्ताव्यक्तशब्दौ पारिभाषिकौ स्तः । सांख्यमते सर्वकारणं रूपादिहीनतया चक्षुराद्यगोचरं प्रधानं महदादि । 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः—(क. उप. १।३।११)।

२. विशेषेणाप्नोति यः, सः व्यापकः ।

सर्वत्र उपस्थिति (सर्वदेशवृत्तिता) रहती है, उसे व्यापक[1] और एकदेशवृत्ति वाला पदार्थ 'अव्यापक' कहा जाता है। प्रधान एवं पुरुष व्यापक अर्थात् सर्वगत हैं। इसके विपरीत यच्च-यावत् व्यक्त पदार्थ अव्यापक धर्मवाले हैं। महदादि व्यक्त पदार्थ क्रियाशील हैं अर्थात् संसार काल में 'संसरण' करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि बुद्धि आदि व्यक्त पदार्थ पुनः पुनः ग्रहण किये गये शरीर को त्यागकर दूसरा-दूसरा शरीर ग्रहण करते हैं। यही प्रवेश एवं निस्सरण रूप क्रियाएं व्यक्त पदार्थों को 'सक्रिय[2] धर्म प्रदान करती हैं। यदि कहा जाय कि पुरुष को भोग-मोक्ष प्रदान करने में बुद्धि आदि व्यक्त पदार्थों का सक्रिय योगदान रहता है, अतः वे 'सक्रिय' कहे जाते हैं, तो ऐसा कहना अनुचित न होगा। व्यक्तवर्ग में तेईस तत्त्व हैं। अतः वे अनेक[3] धर्म वाले हैं। अथवा प्रत्येक पुरुष के बुद्धि आदि व्यक्त पदार्थ भिन्न-भिन्न होने से उन्हें 'अनेक' पुकारा जाता है। जिस प्रकार राजा की कृपा से जीवन-यापन करने वाला सेवक 'राजाश्रित' होता है, उसी प्रकार कारण से प्रकाश (अभिव्यक्ति) प्राप्त करने वाला व्यक्त कार्य भी 'कारणाश्रित' कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रधान के आश्रित बुद्धि, बुद्धि के आश्रित अहंकार, अहंकार के आश्रित एकादश-इन्द्रियां तथा पञ्चतन्मात्र और पञ्चतन्मात्र के आश्रित पञ्च-महाभूत हैं अथवा सभी व्यक्त पदार्थ मूलतः प्रधानाश्रित हैं। सांख्य-योगदर्शन में, जिसका जिससे आविर्भाव होता है, उसका उसी में तिरोभाव होता है, ऐसा माना गया है और चूंकि कार्य का अविर्भाव होता है, अतः तिरोभाव भी उसी का होगा। इस प्रकार कार्यात्मक व्यक्त पदार्थ लयशील सिद्ध होता है। पीछे जिस क्रम से व्यक्त पदार्थों की उत्पत्ति वर्णित हुई है, उसके ठीक विपरीत क्रम से यहां भूतादि व्यक्त पदार्थों का लय[4] समझना चाहिये। सांख्यकारिका की तत्त्वकौमुदी आदि अन्य टीकाओं में 'लिङ्ग' शब्द कारणानुमापक अर्थ में आया है।[5] अर्थात्

---

१. नाशः कारणलयः सां. सू. १।१२१, 'लीङ् श्लेषण (धातुपाठः ९।३२) इत्यनुशासनाल्लयः सूक्ष्मतया कारणेष्वविभागः। स एवातीताख्यो नाश इत्युच्यत इत्यर्थः (सां. प्र. भा. १।१२१)।

२. सक्रियं प्रवेशादिक्रियावत्, बुद्ध्यादयो ह्येकं देहं त्यक्त्वा देहान्तरं प्रविशन्ति— (ना. ती. कृत चन्द्रिका पृ. ११)।

३. न एकम्—अनेकम्।

४. लयं गच्छतीति लिङ्गम् (मा. वृ. पृ. १९)।

५. यथा चैते बुद्ध्यादयः प्रधानस्य लिङ्गम्—(त. कौ. पृ. ११४), लिङ्गं लिङ्गयति ज्ञापयतीति लिङ्गमनुमापकम्, भवति हि कार्यमिदं कारणस्याव्यक्तस्यानुमितिजनकं भोग्यत्वाद् भोक्तुः पुरुषस्य चानुमितिजनकम्–(ना. ती. कृत चं. पृ. १२)।

व्यक्त पदार्थ अपने-अपने कारण का अनुमान कराते हुए मूलकारण प्रकृति की सत्ता के अनुमान में लिङ्ग (हेतु ज्ञापक) बनते हैं। व्यक्त पदार्थ 'सावयव'[1] अर्थात् अवयवयुक्त हैं। अवयव—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध हैं।[2] व्यक्त पदार्थ 'पराधीन'[3] हैं। ये स्वतन्त्र रहकर कार्योत्पत्ति में समर्थ नहीं हैं। जैसे बुद्धि प्रधान के अधीन है और अहंकार बुद्धि के अधीन। इसी प्रकार अन्य व्यक्त तत्त्वों को भी समझना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रधान निरपेक्ष होकर अर्थात् स्वतन्त्र रूप से बुद्धि अहंकारोत्पत्ति में समर्थ नहीं होती है। यही स्थिति अन्य व्यक्त पदार्थों की भी है।

अव्यक्त के धर्म—ऊपर 'व्यक्त' के नौ धर्मों की चर्चा हुई। ये धर्म अव्यक्त प्रकृति में उपलब्ध नहीं होते हैं। प्रधान में 'हेतुमत्' आदि धर्मों का अत्यन्ताभाव रहता है। अतः 'व्यक्त' से 'अव्यक्त' पृथक् है। अब उपर्युक्त आशय को स्पष्ट करते हैं—अव्यक्त एक ऐसा तत्त्व है, जो सबका कारण होते हुए भी स्वयं किसी का कार्य नहीं है। प्रधान में उत्पत्तिमत्ता न होने से उसे 'अहेतुमत्' कहा गया है। अनित्यता एवं उत्पत्तिमत्ता में व्याप्तिसंबन्ध—'यत्र यत्र उत्पत्तिमत्त्वं तत्र-तत्र अनित्यत्वं, यथा घटः'—रहने से उत्पत्तिशून्य अव्यक्त प्रकृति 'नित्य' पुकारी जाती है। अव्यापक (व्याप्य) व्यक्त से भिन्न अव्यक्त प्रकृति 'व्यापक' है क्योंकि वह सर्वगत है। सर्वगत होने से ही व्यापक प्रकृति को 'निष्क्रिय'[4] कहा गया है। अर्थात् व्यक्त पदार्थों की भांति उसमें प्रवेश-निःसरण आदि क्रियाएं नहीं हैं। व्यक्त की भांति अव्यक्त प्रकृति अनेक नहीं, अपितु एक ही है, क्योंकि वही तीनों लोकों की एकमात्र कारण है। कार्यरहित अव्यक्त प्रकृति में कैसी आश्रयिता? क्योंकि कार्य ही कारण के आश्रित रहता है। अतः प्रकृति 'अनाश्रित' हुई। जिसका उदय होता है, उसी का अन्त भी होता है। यह 'उदयास्तता' अनित्य पदार्थों का धर्म है। नित्य होने से जिसका आविर्भाव ही नहीं तो उसका तिरोभाव कैसा और किसमें? अतः

---

१. सावयवम्=अवयवनमवयवः, अवयवानामवयविनां मिथः संश्लेषो मिश्रणं संयोग इति यावत्—(त. कौ. पृ. ११५), सावयवम्, अवयवैर्गुणैर्युक्तम् (ना. ती. कृत चं. पृ. १२)

२. अवयवन्तीत्यवयवा यथा पिण्डस्य हस्तपादाद्याः। शब्दस्पर्शरसरूपगन्धावयव-सम्पन्नं व्यक्तम्—(मा, वृ. पृ. १९)।

३. परतन्त्रं साक्षात् परम्परया वा प्रकृत्यधीनस्वरूपपरिणामकम्—(ना, ती. कृ. च. पृ. १२)।

४. शान्तादिक्रियाशून्यत्वात्—(ना. ती. कृत च. पृ. १२)।

त्रैकालिक सत्तावान् अव्यक्त को 'अलिङ्ग' (लयशून्य) कहा गया है। प्रधान में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, एवं गन्ध—अवयव न रहने से अव्यक्त 'अनवयव' (निरवयव)[1] धर्मवाला है। जिसे स्वकार्यजनन में दूसरे की अपेक्षा नहीं, फिर वह परमुखापेक्षी क्यों रहे। अतः अपने में पूर्ण समर्थ अव्यक्त प्रकृति[2] 'स्वतन्त्र' है। इस प्रकार व्यक्त एवं अव्यक्त का वैधर्म्य प्रतिपादित हुआ ॥१०॥

[व्यक्ताव्यक्त के समान धर्म]

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥

अन्वयः—व्यक्तं तथा प्रधानं—त्रिगुणम्, अविवेकि, विषयः, सामान्यम्, अचेतनं, प्रसवधर्मि [स्तः]। पुमान्—तद्विपरीतः। तथा च [वर्त्तते] ॥ ११ ॥

कारिकार्थः—त्रिगुणत्व, अविवेकित्व, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनत्व तथा प्रसवधर्मित्व—व्यक्त एवं अव्यक्त के समान (तुल्य) धर्म हैं। पुरुष इनसे भिन्न है। अर्थात् पुरुष में व्यक्ताव्यक्त के समस्त धर्म (उभयसाधारण धर्म) नहीं हैं। वह तो किञ्चित् अंश में ही व्यक्ताव्यक्त के तुल्य धर्म वाला है ॥ ११ ॥

भाष्यम्—एवं व्यक्ताऽव्यक्तयोर्वैधर्म्यमुक्तं, साधर्म्यमुच्यते। यदुक्तं—'सरूपं च'। (१) त्रिगुणं व्यक्तं, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणा यस्येति। (२) अविवेकि व्यक्तं न विवेकोऽस्यास्तीति। इदं व्यक्तमिमे गुणा इति न विवेकं कर्तुं याति। अयं गौरयमश्व इति यथा। ये गुणास्तद्व्यक्तं, यद्व्यक्तं ते च गुणा इति। तथा—(३) विषयो व्यक्तं, भोग्यमित्यर्थः। सर्वपुरुषाणां विषयभूतत्वात्। तथा—(४) सामान्यं व्यक्तं, मूल्यदासीवत् सर्वसाधारणत्वात्। (५) अचेतनं व्यक्तं, सुखदुःखमोहान्न चेतयतीत्यर्थः। तथा—(६) प्रसवधर्मि व्यक्तम्। तद्यथा—बुद्धेरहङ्कारः प्रसूयते, तस्मात् पञ्चतन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि च प्रसूयन्ते, तन्मात्रेभ्यः—पञ्चमहाभूतानि। एवमेते व्यक्तधर्माः प्रसवधर्मान्ता उक्ताः एवमेभिरव्यक्तं सरूपं, यथा व्यक्तं तथा प्रधानमिति। तत्र (१) त्रिगुणं व्यक्तमव्यक्तमपि त्रिगुणं, यस्यैतन्महदादिकार्यं त्रिगुणम्। इह यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमिति। यथा कृष्णतन्तुकृतः कृष्ण एव पटो भवति। तथा-(२) अविवेकि व्यक्तं, प्रधानमपि गुणैर्न भिद्यते, अन्ये गुणाः, अन्यत् प्रधानमेवं विवेक्तुं न याति, तद् अविवेकि प्रधानम्। तथा (३) विषयो व्यक्तं, प्रधान-

---

१. निरवयवममूर्तत्वात्—(मा. वृ. पृ. १९), निरवयवम्, अकारणत्वात्—(ना. ती. कृत चं. पृ. १३)।

२. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः—(सां. सू. १।६१)।

मपि सर्वपुरुषविषयभूतत्वाद् विषय इति। तथा (४) सामान्यं व्यक्तं; प्रधानमपि, सर्व-साधारणत्वात्। तथा—(५) अचेतनं व्यक्तं, प्रधानमपि; सुखदुःखमोहान्न चेतयतीति। कथमनुमीयते—इह ह्यचेतनान्मृत्पिण्डादचेतनो घट उत्पद्यते। तथा—(६) प्रसवधर्मि व्यक्तं, प्रधानमपि प्रसवधर्मि। यतः प्रधानाद् बुद्धिरुत्पद्यते। एवं प्रधानमपि व्याख्यातम्। इदानीं **तद्विपरीतस्तथा च पुमान्** इत्येतद् व्याख्यायते। तद्विपरीतः। ताभ्यां = व्यक्ताव्यक्ताभ्यां विपरीतः—पुमान्। तद्यथा—(१) त्रिगुणं व्यक्तमव्यक्तं च, अगुणः पुरुषः। (२) अविवेकि व्यक्तमव्यक्तं च, विवेकी पुरुषः। तथा (३) विषयो व्यक्तमव्यक्तं च, अविषयः पुरुषः। तथा (४) सामान्यं व्यक्तमव्यक्तं च, असामान्यः पुरुषः। (५) अचेतनं व्यक्तमव्यक्तं च, चेतनः पुरुषः सुखदुःखमोहांश्चेतयति=सञ्जानाते तस्माच्चेतनः पुरुष इति। (६) प्रसवधर्मि व्यक्तं, प्रधानं च, अप्रसवधर्मी पुरुषः, न हि किञ्चित् पुरुषात् प्रसूयते। तस्मादुक्तं तद्विपरीतः पुमानिति। तदुक्तं—**'तथा च पुमान्'** इति। यत् पूर्वस्यामार्यायां प्रधानमहेतुमद्यथा व्याख्यातं, तथा च पुमान्। तद्यथा हेतुमदनित्यमित्यादि व्यक्तं, तद्विपरीतमव्यक्तं, तत्र हेतुमद् व्यक्तमहेतुमत् प्रधानं, तथा च पुमान्, अहेतुमान्, अनुत्पाद्यत्वात्। अनित्यं व्यक्तं, नित्यं प्रधानं, तथा च नित्यः पुमान्। अव्यापि व्यक्तं, व्यापि प्रधानम्, तथा च व्यापी पुमान्, सर्वगतत्वात्। सक्रियं व्यक्तमक्रियं प्रधानम्, तथा च पुमानक्रियः, सर्वगतत्वादेव। अनेकं व्यक्तमेकमव्यक्तं, तथा च पुमानप्येकः। आश्रितं व्यक्तमनाश्रितमव्यक्तं, तथा च पुमाननाश्रितः। लिङ्गं व्यक्तमलिङ्गं प्रधानं, तथा च पुमानप्यलिङ्गः न क्वचिल्लीयत इति। सावयवं व्यक्तं, निरवयवमव्यक्तं, तथा च पुमान् निरवयवः, न हि पुरुषे शब्दादयोऽवयवाः सन्ति। किञ्च परतन्त्रं व्यक्तं, स्वतन्त्रमव्यक्तं, तथा च पुमानपि स्वतन्त्रः, आत्मनः प्रभवतीत्यर्थः ॥११॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थ—[अष्टम कारिका में की गई प्रतिज्ञा 'कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपम् च' के अनुसार अव्यवहित पूर्ववर्ती दशम कारिका में व्यक्ताव्यक्त का वैधर्म्य प्रतिपादन हो चुकने पर प्रस्तुत कारिका में क्रम प्राप्त व्यक्ताव्यक्त का साधर्म्य तथा पुरुष का उनसे साधर्म्य एवं वैधर्म्य बताया जा रहा है।]

व्यक्ताव्यक्त के तुल्य धर्मः—सांख्यशास्त्र में 'प्रकृति' को त्रिगुणात्मक कहा गया है[1]। ये तीन गुण हैं—सत्त्व, रजस् एवं तमस्। सत्त्वादि प्रकृति के धर्म नहीं, अपितु स्वरूप हैं।[2] जो जिसका स्वरूप होता है, उसे उससे पृथक् नहीं

---

१. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः—(सां. सू. १ ६१)।

२. सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्—(सां. सू. ६।३९), सत्त्वादिगुणानां प्रकृतिधर्मत्वं नास्ति प्रकृतिस्वरूपत्वादित्यर्थः—सां. प्र. भा. पृ. २५३।

किया जा सकता और कारण के गुण कार्य में संक्रान्त होते हैं, यह अनुभव सिद्ध है। जैसे काले सूत्र (कारण) द्वारा निर्मित वस्त्र (कार्य) कृष्ण ही होता है। एतावता त्रिगुणात्मक प्रकृति का कार्यसमुदाय (महदादि) भी त्रिगुणात्मक सिद्ध होता है। अतः 'त्रिगुणत्व', व्यक्ताव्यक्त उभयसाधारण धर्म है।

व्यक्त तथा अव्यक्त 'अविवेकी' हैं। 'अविवेकी' पद का अर्थ है—विवेक न होना और 'विवेक' शब्द का अर्थ है—भेद। आचार्य गौडपाद के अनुसार व्यक्ताव्यक्त के रूप से गुणों की पृथक् प्रतीति न हो पाना ही व्यक्त तथा अव्यक्त तत्त्वों का 'अविवेकित्व' है। कहने का आशय यह है कि जैसे 'यह गाय है और यह अश्व है'। यहां गाय और अश्व दोनों की पृथक्-पृथक् प्रतीति सभी को होती है। वैसे ही 'ये गुण हैं और ये व्यक्ताव्यक्त हैं' ऐसा विवेचन नहीं किया जा सकता। क्योंकि व्यक्ताव्यक्त से पृथक् गुणों का और गुणों से पृथक् व्यक्ताव्यक्त का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अतः गुणस्वरूप व्यक्त तथा अव्यक्त को 'अविवेकित्व' साधारण धर्म का कहा गया है। वाचस्पति मिश्र ने अन्य प्रकार से अविवेकित्व की व्याख्या की है।[1] उनके मत में स्व का भेद न रहने से प्रकृति में 'अविवेकित्व' है।

संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं—विषयरूप[2] तथा विषयिरूप[3]। जिसका उपयोग किया जाता है उसे 'विषय' कहते हैं, और जो विषय का उपभोक्ता होता है, वह 'विषयी' कहलाता है। व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों पुरुष के भोग्य होने से 'विषयत्व, उनका साधारण धर्म कहा गया है। अथवा ज्ञान के विषय होने से व्यक्ताव्यक्त में 'विषयत्व' है।

आचार्य गौडपाद ने व्यक्ताव्यक्त को गणिका (वेश्या) के समकक्ष रखकर उनका 'सामान्यत्व' धर्म सिद्ध किया है। जिस प्रकार धन के लोभ से वेश्या समस्त पुरुषों के भोग की वस्तु बनती है। अतः वह व्यक्ति विशेष की न रहकर सर्वसाधारण की होती है। उसी प्रकार ये व्यक्ताव्यक्त पदार्थ भी सभी पुरुषों के उपभोगार्थ तैयार रहने से उन्हें 'सामान्य' धर्मवाला कहा गया है।

कारण के गुण कार्य में अनुप्रविष्ट रहते हैं। जैसे मृत्पिण्ड की जड़ता घट में आती है। महदादि कार्यों को जड़ देखकर उनका कारण 'प्रधान' जड़ होगा, ऐसा

---

१. यथा प्रधानं न स्वतो विविच्यते, एवम्महदादयोऽपि न प्रधानाद् विविच्यन्ते, तदात्मकत्वात्। अथवा सम्भूयकारिताऽत्राविवेकिता—(सां. त. कौ. पृ. ११८)।

२. —विषयतावान् विषयः। यथा अयं घटः इति ज्ञाने प्रमेयत्वेन जगद्विषयः।

३. विषयाः सन्त्यस्येति विषयि।

अनुमान किया जाता है। यही कारण है कि वे सुख, दुःख तथा मोह को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं होते हैं। इस प्रकार व्यक्ताव्यक्त में अचेतनत्व धर्म सिद्ध होता है।

'प्रसवधर्मित्व'[1] भी व्यक्ताव्यक्त का धर्म कहा गया है। 'प्रसवधर्मि' पद का अर्थ है—परिणामशील। सांख्ययोगशास्त्र में संसार के यच्च-यावत् जड़ पदार्थों को 'परिणाम' स्वभाव का माना गया है। जड़ पदार्थ एक भी क्षण परिणाम से शून्य नहीं रहता है। परिणाम दो प्रकार का है—सरूपपरिणाम तथा विरूपपरिणाम। प्रलयावस्था में 'सरूपपरिणाम' तथा संसारावस्था में 'विरूपपरिणाम' मान्य है। 'सरूपपरिणाम' के समय पदार्थोत्पत्ति नहीं होती है, अपितु सत्त्व सत्त्वरूप में, रजस् रजोरूप में तथा तमस् तमोरूप में परिणत होता रहता है। 'विरूपपरिणाम' कार्योत्पत्ति से संबद्ध है। यथा प्रकृति का विरूपपरिणाम बुद्धि और बुद्धि का विरूपरिणाम अहंकार है। इसी प्रकार सांख्यसम्मत अन्य पदार्थों में (कार्य की दृष्टि से कारण में) भी विरूपपरिणाम की योजना कर लेनी चाहिये।

इस प्रकार व्यक्ताव्यक्त उभयसाधारण छह धर्मों की व्याख्या हुई। अब उपरिवर्णित जड़गत धर्मों की तुलना में चेतन पुरुष के स्वरूप का निर्णय किया जा रहा है।

पुरुष का व्यक्ताव्यक्त से साधर्म्य तथा वैधर्म्य :—महर्षि ईश्वरकृष्ण ने पिछली 'तद्विपरीतः' कारिकांश द्वारा पुरुष में व्यक्ताव्यक्त के त्रिगुणत्व आदि धर्मों का निषेध किया है। व्यक्ताव्यक्त के उभयनिष्ठ साधारण धर्म—'त्रिगुणत्व, अविवेकित्व, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनत्व तथा प्रसवधर्मित्व; व्यक्तनिष्ठ धर्म—हेतुमत्त्व, अनित्यत्व, अव्यापित्व, सक्रियत्व, आश्रितत्व, लिङ्गत्व, सावयवत्व तथा परतन्त्रत्व एवं अव्यक्तनिष्ठ धर्म—एकत्व पुरुष में नहीं है। व्यक्तनिष्ठ अनेकत्व धर्म तथा अव्यक्तनिष्ठ अहेतुमत्त्व, नित्यत्व, व्यापकत्व, निष्क्रियत्व, निराश्रितत्व, अलिङ्गत्व, निरवयवत्व एवं स्वतन्त्रत्व धर्म पुरुष में है। इस प्रकार पुरुष व्यक्ताव्यक्त के सदृश (तुल्य) एवं असदृश (अतुल्य) दोनों प्रकार का सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

[गुण-निरूपण]

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ १२ ॥

---

१. प्रसवधर्मि, प्रसवोऽन्याविर्भावहेतुत्वं धर्मो यस्य तादृशम्, यस्माद् बुद्धयादिकमहंकारादिकं प्रसूते...(ना. ती. कृत चं. पृ. १२-१३)।

अन्वय :—गुणा—प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः, प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः, अन्यो-न्याभिभवाश्रय-जननमिथुनवृत्तयश्च [सन्ति] ॥ १२ ॥

कारिकार्थ :—सत्त्व, रजस् तथा तमस्—ये तीनों गुण क्रमशः प्रीति, अप्रीति एवं विषाद स्वभाव (स्वरूप) वाले; प्रकाश, प्रवृत्ति तथा नियमन प्रयोजन वाले, परस्पर-अभिभव-सहायक-उत्पत्ति तथा संयोग रूप व्यापार वाले हैं ॥ १२ ॥

भाष्यम्—एवमेतदव्यक्तपुरुषयोः साधर्म्यं व्याख्यातं पूर्वस्यामार्यायाम् । व्यक्तप्रधानयोः साधर्म्यं, पुरुषस्य वैधर्म्यं च 'त्रिगुणमविवेकी' त्यादि प्रकृताऽऽर्यायां व्याख्यातम् । तत्र यदुक्तं—'त्रिगुण' मिति व्यक्तमव्यक्तं च । तत् के ते गुणा इति ? । तत्स्वरूपप्रतिपादनार्थेदमाह प्रीत्यात्मका, अप्रीत्यात्मका, 'विषादात्मकाश्च गुणाः = सत्त्वरजस्तमांसीत्यर्थः । तत्र प्रीत्यात्मकं सत्त्वम् । प्रीतिः = सुखं, तदात्मक-मिति । अप्रीत्यात्मकं रजः । अप्रीतिर्दुःखम् । विषादात्मकं तमः । विषादो मोहः । तथा प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः । अर्थशब्दः—सामर्थ्यवाची । प्रकाशार्थं सत्त्वं, प्रकाशसमर्थमित्यर्थः । प्रवृत्यर्थं रजः, नियमार्थं तमः, स्थितौ समर्थमित्यर्थः । प्रकाश-क्रिया-स्थिति-शीला गुणा इति । तथा अन्योऽन्याभिभवाश्रय-जननमिथुन-वृत्तयश्च । अन्योऽन्याभिभवाः । अन्योऽन्याश्रयाः अन्योन्यजनना अन्योन्यमिथुनाः अन्योऽन्यवृत्तयश्च ते तथोक्ताः । अन्योऽन्याभिभवा इति । अन्योऽन्यं परस्पर-मभिभवन्तीति, प्रीत्यप्रीत्यादिभिर्धर्मैरभिभवन्ति । यथा यदा सत्त्वमुत्कटं भवति, तदा रजस्तमसी अभिभूय, स्वगुणेन प्रीतिप्रकाशात्मकेनावतिष्ठते । यदा रजस्तदा सत्त्व-तमसी अप्रीतिप्रवृत्त्यात्मना धर्मेण । यदा तमस्तदा सत्त्वरजसी विषादस्थित्यात्मकेन इति । तथाऽन्योन्याश्रयाश्च-द्व्यणुकवद् गुणाः । अन्योऽन्यजननाः यथा मृत्पिण्डो घटं जनयति । तथा अन्योऽन्यमिथुनाश्च यथा स्त्रीपुंसौ अन्योन्यमिथुनौ तथा गुणाः । उक्तं च—

'अन्योऽन्यमिथुनाः सर्वे, सर्वे सर्वत्र गामिनः ।
रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः ॥
तमसश्चापि मिथुने ते सत्त्वरजसी उभे ।
उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते ॥
नैषामादिः सम्प्रयोगो, वियोगो वोपलभ्यते ।

परस्परसहाया इत्यर्थः । अन्योऽन्यवृत्तयश्च । परस्परं वर्तते, 'गुणाः गुणेषु वर्तन्ते' इति वचनात् । यथा सुरूपा सुशीला स्त्री (पत्युः) सर्वसुखहेतुः, सपत्नी-नां सैव दुःखहेतुः, सैव रागिणां मोहं जनयति । एवं सत्त्वं रजस्तमसोर्वृत्तिहेतुः ।

यथा राजा सदोद्युक्तः प्रजापालने, दुष्टनिग्रहेण शिष्टानां सुखमुत्पादयति, दुष्टानां दुःखं मोहं च। एवं रजः—सत्त्वतमसोर्वृत्तिं जनयति। तथा तमः—स्वरूपेणावरणात्मकेन सत्वरजसोर्वृत्तिं जनयति। यथा—मेघाः खमावृत्य जगतः सुखमुत्पादयन्ति, ते वृष्टया कर्षकाणां कर्षणोद्योगं जनयन्ति, विरहिणां मोहम्। एवमन्योऽन्यवृत्तयो गुणाः ॥ १२ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थ:—ग्यारहवीं कारिका में 'व्यक्त' तथा 'अव्यक्त' को त्रिगुणात्मक कहा गया है। इस पर यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि 'गुण' किसे कहते हैं, वे संख्या में कितने हैं? किस स्वभाव एवं प्रयोजन वाले हैं, तथा अपने उद्देश्य की पूर्ति किस विधि (व्यापार) से करते हैं? इन जिज्ञासाओं के शमनार्थ ही आचार्य ईश्वरकृष्ण ने प्रस्तुत कारिका तथा अग्रिम कारिका का निर्माण किया है।

गुणों का स्वरूप:—सांख्ययोगशास्त्र में 'गुण'[1] शब्द से सत्त्व, रजस् एवं तमस् को लिया जाता है। सत्त्वगुण प्रीति प्रदान करता है। प्रीति का अर्थ है—सुख, आनन्द आदि। 'प्रीति' सत्त्वगुण का स्वरूप होने से उसे प्रीत्यात्मक कहते हैं। रजोगुण 'अप्रीति' प्रदान करता है। 'अप्रीति' का अर्थ है—दुःख, कष्ट, चिन्ता इत्यादि। 'अप्रीति' को रजोगुण से पृथक् नहीं किया जा सकता, वह तत्स्वरूप है। तमोगुण 'विषाद' प्रदान करता है। 'विषाद' का अर्थ है—मोह, जड़ता आदि। 'विषाद' तमोगुण से भिन्न नहीं है। तमोगुण ही 'विषाद' और विषाद ही तमोगुण होने से तमोगुण को विषादात्मक कहा जाता है। एतावता सत्त्वगुण सुखस्वरूप, रजोगुण दुःखस्वरूप तथा तमोगुण विषादस्वरूप सिद्ध होता है।

गुणों का प्रयोजन:—प्रत्येक गुण अपने स्वरूप के अनुरूप सामर्थ्य का प्रदर्शन करता है। प्रस्तुत कारिका में आया 'अर्थ' पद सामर्थ्यवाची है। वाचस्पतिमिश्र ने 'अर्थ' पद का अर्थ प्रयोजन किया है।[2] सामर्थ्य के अनुसार

---

१. संस्कृतवाङ्मये 'गुण' शब्दः अनेकेष्वर्थेषु प्रयुक्तः यथा– 'श्लेषादयो दश माधुर्यौजः प्रसादा इति त्रयो वा गुणा इत्यालंकारिकाः, यागादौ आधेयविशेषो दध्यादिः गुण इति मीमांसकाः, रूपादयश्चतुर्विंशतिर्गुणा इति वैशेषिका नैयायिकाः, ज्ञानानन्दादयोऽपि गुणा इति वेदान्तिनः, अकार्पण्यास्पृहत्वादय इति धर्मज्ञाः, देशकालज्ञतादयश्चतुर्दश गुणा इति पौराणिकाः, उष्णाद्यष्टविधं वीर्यं गुण इति भिषजः, वस्तुधर्मो गुण इति वैयाकरणादयः, आवृत्तिरिति तान्त्रिकाः, त्यागः इति काव्यज्ञाः सत्त्वम् रजः तमश्चैते द्रव्यात्मकाः त्रयो गुणा इतिसांख्यः—(न्या. को. पृ. २६१–२६२)।

२. स्वरूपमेषमुक्त्वा प्रयोजनमाह ... मार्थाः इति—(सां. त. कौ. पृ. १२५)।

प्रयोजन होने से दोनों को 'अर्थ' शब्द का पर्याय कहा जाय तो अनुचित न होगा। सत्त्वगुण का सामर्थ्य 'प्रकाशन' में है। यह ज्ञान का प्रकाश है। अर्थात् सत्त्वगुण के कारण जब चित्त में आनन्द का स्फुरण होता रहता है, तब चिन्ताशून्य शान्त (एकाग्र) चित्त को विषय के परिज्ञान में बाधा नहीं पड़ती है। रजोगुण का सामर्थ्य 'प्रवर्तन' में है। प्रवृत्ति का अर्थ कार्योन्मुखता है। अर्थात् रजोगुण से स्फूर्तिप्राप्त शरीरेन्द्रिय को कार्य करने में विशेष अभिरुचि रहती है। तमोगुण का सामर्थ्य 'नियमन' में है। 'नियमन' का अर्थ 'नियन्त्रण' है। शरीरेन्द्रिय को गुरुता तथा जड़ता प्रदान कर तमोगुण अपने प्रयोजन की पूर्ति करता है। फलस्वरूप चित्त किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। इस प्रकार सत्त्वगुण के प्रकाशनसामर्थ्य एवं रजोगुण के प्रवर्तनसामर्थ्य को अवरुद्ध करना तमोगुण का लक्ष्य है।

गुणों का व्यापार—ऊपर गुणों का प्रयोजन बतलाया गया है। अब गुणों का सम्बन्ध बतलाते हुए उनकी कार्य-प्रणाली पर प्रकाश डाला जा रहा है।

आचार्य गौडपाद के अनुसार गुणों का अन्योन्याभिभव, अन्योन्याश्रय, अन्योन्यजनन, अन्योन्यमिथुन तथा अन्योन्यवृत्ति-व्यापार है। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने 'वृत्ति' पद को व्यापार (क्रिया) परक मानकर 'वृत्ति' पद का कारिका में प्रयुक्त 'अभिभव' आदि प्रत्येक पद के साथ अन्वय किया है।[1] अर्थात् वाचस्पति मिश्र के मत में गुणों की अन्योन्याभिभववृत्ति, अन्योन्याश्रयवृत्ति, अन्योन्यजननवृत्ति तथा अन्योन्यमिथुनवृत्ति है।

गुणों का अन्योन्याभिभव व्यापारः—'अन्योन्याभिभव' पद का अर्थ है—गुणों द्वारा एक दूसरे का विमर्दन किया जाना। सत्त्वादि प्रत्येक गुण अपने सुखादि का प्रभाव तभी प्रदर्शित कर पाता है, जब वह अपने विरोधी रजसादि गुणों की शक्ति को अभिभूत कर लेता है। तुल्य शक्तिसम्पन्न रहने पर वैसा प्रभाव प्रदर्शन? गुणों की साम्यावस्था प्रलय कही गयी है। संसार दशा में गुणों की विमर्द्यविमर्दकभाव स्थिति हो रहती है। समय-समय पर चित्त में सात्विकीय, राजसीय तथा तामसीय भावनाओं का ज्वार-भाटा (ज्वार = प्रादुर्भाव, भाटा = तिरोभाव) रहता है। जैसे सत्त्वगुण के उत्कट तथा अन्य दो गुणों के अनुत्कटकाल में चित्त प्रसन्न (सुखी) तथा ज्ञानप्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। इसी प्रकार अन्य दो गुण रजस् तथा तमस् अपने-अपने साम्राज्य (प्रादुर्भाव) काल में दुःख तथा मोह की विजय-पताका फहराने से नहीं चूकते हैं।

---

१. वृत्तिः क्रिया, सा च प्रत्येकमभिसंबध्यते—(सां. त. कौ. पृ. १२६)।

अन्योन्याश्रयव्यापार[1] :—ऊपर गुणों के अन्योन्याभिभवव्यापार को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि तीनों गुण एक-दूसरे के कट्टर शत्रु हैं। लेकिन सूक्ष्मता से अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि दर्शनजगत् में यह 'गुण-विरोध' सहयोग पुरस्सर प्रतिष्ठित हुआ है। सत्त्व, रजस् तथा तमस् में व्यक्तिगत शत्रुता रहने पर भी गुणत्व जाति की दृष्टि से मित्रता परिलक्षित होती है। अतः ये परस्पराश्रित रहकर ही स्वरूपाभिव्यक्ति कर पाते हैं। क्या दो परमाणुओं से निर्मित द्व्यणुक अपने अवयवभूत एक परमाणु से वियुक्त (अलग) हो जाने पर ज्यों का त्यों (द्व्यणुक रूप से) बना रह सकता है? उत्तर है--नहीं, क्योंकि द्व्यणुक आश्रयी के दोनों परमाणु आश्रय हैं अर्थात् द्व्यणुक द्विपरमाण्वाश्रित होता है। इसी प्रकार गुण भी परस्पराश्रित हैं। रजोगुण एवं तमोगुण से प्रवृत्ति एवं नियमन प्राप्त कर सत्त्वगुण ज्ञान का प्रकाश करता है। प्रकाशरूपसत्त्वगुण एवं नियमनरूप तमोगुण के आश्रित रहकर रजोगुण प्रवृत्त होता है। प्रकाश और प्रवृत्ति के आश्रित रहकर तमोगुण नियन्त्रण (नियमन) करता है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि प्रत्येक गुण अपने-अपने कार्य के लिये अन्य दोनों गुणों की अपेक्षा रखता है।[2]

अन्योन्यजननव्यापार :— पहले बतलाया जा चुका है कि गुणों का दो प्रकार का परिणाम होता है—सरूपपरिणाम तथा विरूपपरिणाम। परिणाम की इतिश्री कभी नहीं होती है। प्रलयकाल में गुण परस्पर सहायक होकर 'सरूप-परिणाम' से विशिष्ट (युक्त) होते हैं अर्थात् अन्य दो गुणों की सहकारिता से एक सत्त्वव्यक्ति का लय तथा दूसरे सत्त्वव्यक्ति का आविर्भाव होता रहता है। इसी प्रकार का आविर्भाव एवं तिरोभाव रूप परिणाम-क्रम अन्य दो गुणों का भी चलता रहता है।

आचार्य गौडपाद ने गुणों के उक्त व्यापार को समझाने के लिये 'मृत्तिका से घटोत्पत्ति' का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह आपाततः 'विसदृश-परिणाम' का प्रतीत होता है। लेकिन इस उदाहरण में विसदृश परिणाम का 'तत्त्वान्तरोपादानकत्व रूप' लक्षण घटित न होने से यह 'सदृश-परिणाम' का ही उदाहरण सिद्ध होता है।

---

१. अन्योन्यम्=इतरेतरं, परस्परं, अन्योन्यप्रतिघातसङ्कुलचलत्कल्लोलकोलाहलैः—(उत्तररामचरितं २।३०)।

अन्योन्यमाश्रयतीति अन्योन्याश्रयः।

२. त्रिदण्डविष्टम्भवदमी वेदितव्या इति—(मा. वृ. पृ. २२)।

अन्योन्यमिथुनव्यापार:—'अन्योन्यमिथुन' पद का अर्थ है—एक दूसरे के साथ मिलकर रहना। जहां मित्रता है, वहां साहचर्य के दर्शन होते हैं। आचार्य गौडपाद ने गुणों के साहचर्य प्रदर्शन में स्त्री-पुरुष (पति-पत्नी) के मैत्री-सम्बन्ध को दृष्टान्त रूप से प्रस्तुत किया है, जो अत्यन्त उपयुक्त है। धर्मशास्त्रियों ने स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध जन्मजन्मान्तरपर्यन्त स्थायी माना है। गुणों के नित्य होने से उनकी मैत्री भी चिरस्थायी है। कहने का तात्पर्य यह है कि तीनों गुण मिलकर सृष्टिसंचालन का कार्य सम्पन्न करते हैं। इसमें देवीभागवत का 'अन्योऽन्यमिथुनाः[1]....' वाक्य प्रमाण है।

अन्योन्यवृत्तिव्यापार:—'अन्योन्यवृत्ति' पद का अर्थ परस्पर एक दूसरे में रहना है। इसमें 'गुणेषु गुणा वर्तन्ते' वचन प्रमाण है। (यद्यपि 'गुणेषु गुणाननङ्गीकारात्' वचन भी प्राप्त होता है, तथापि दोनों वाक्यों में प्रयुक्त 'गुण' शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ में परिभाषित है। पहले वाक्य से सांख्ययोग दर्शन की गुण-मान्यता तथा दूसरे वाक्य से न्याय-वैशेषिक दर्शन की गुणमान्यता का विश्लेषण हुआ है। सांख्याचार्यों ने सत्त्वादिगुणों को द्रव्य रूप माना है। उनके अनुसार द्रव्य में द्रव्य रह सकता है। न्यायवैशेषिक के रूप, रस आदि चौबीस गुण द्रव्याश्रित हैं, द्रव्य रूप नहीं। अतः न्याय-वैशेषिक के अनुसार निराश्रित गुण दूसरे गुण का आश्रय कैसे बन सकता है ?) जैसे रूपवती सच्चरित्रा स्त्री एक तरफ सभी व्यक्तियों का नेत्राभिरञ्जन (चाक्षुष सुख प्रदान) करती है, दूसरी तरफ वही अपनी सपत्नियों को दुःख प्रदान करती है और तीसरी तरफ अपनी (परस्त्री) प्राप्ति के लोलुप व्यक्तियों को मोह प्रदान करती है। इस प्रकार उक्त उदाहरण में रजस् एवं तमस् की वृत्ति का हेतु सत्त्वगुण है। सम्प्रति, सत्त्व और तमस् की वृत्ति के हेतुभूत रजोगुण का उदाहरण बतलाते हैं—प्रजापालन में कटिबद्ध राजा दुष्टों का संहार करके सभ्य व्यक्तियों को सुख (निर्विघ्नताजनित आनन्द) प्रदान करता है। दण्ड व्यवस्था द्वारा दुष्टों को दुःख और मोह प्रदान करता है। इस प्रकार रजोगुण की संहारात्मक वृत्ति से सात्त्विक तथा तामस वृत्तियां भी संश्लिष्ट रहती हैं। अर्थात् रजोगुण सत्त्व और तमस् की वृत्ति का जनक होता है। इसी भांति तमोगुण भी अपने आवरणात्मक (आच्छादनात्मक) स्वरूप के प्रसारण काल में सत्त्वमयी तथा रजोमयी वृत्तियों को उत्पन्न करता है। जैसे आकाश को मेघ से आच्छादित करना तमोगुण का कार्य है, तथापि वह मेघाच्छादित आकाश एक तरफ जगत् को सुख प्रदान करता है, क्योंकि मेघ को देखकर कृषकों की कृषि में

---

१. दे. भा. ३।८।

प्रवृत्ति होती है; दूसरी तरफ वह विरहणियों को मोहग्रस्त करता है। इस प्रकार गुणों का अन्योन्यवृत्तिव्यापार समझ में आ जाता है ॥ १२ ॥

[गुणों का स्वरूप]

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरु वरणकमेव[1] तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥

अन्वय—[सांख्याचार्यैः] सत्त्वमेव—लघु, प्रकाशकम् इष्टम् , रज एव—उपष्टम्भकं चलं च इष्टम् , तम एव—गुरुवरणकम् इष्टम् । [गुणानां] वृत्तिः च प्रदीपवत्, अर्थतः (भवति) ॥ १३ ॥

कारिकार्थः—सांख्याचार्यों ने सत्त्वगुण[2] को ही हल्का तथा प्रकाशक माना है, रजोगुण को ही उत्तेजक तथा चञ्चल माना है एवं तमोगुण को ही भारी तथा अवरोधक माना है। प्रदीप की तरह मिलकर तीनों गुणों का व्यापार एक ही प्रयोजन के लिये होता है ॥ १३ ॥

भाष्यम्—सत्त्वं-लघु, प्रकाशकं च। यदा सत्त्वमुत्कटं भवति, तदा लघून्यङ्गानि, बुद्धिप्रकाशश्च, प्रसन्नतेन्द्रियाणां भवति। उपष्टम्भकं चलं च रजः। उपष्टभ्नातीत्युपष्टम्भकम्=उद्योतकं। यथा वृषो वृषदर्शने उत्कटमुपष्टम्भं करोति, एवं रजोवृत्तिः। तथा रजश्च चलं दृष्टम्। रजोवृत्तिश्चलचित्तो भवति। गुरु वरणकमेव तमः। यदा तम उत्कटं भवति गुरूण्यङ्गानि, आवृतानीन्द्रियाणि भवन्ति स्वार्थाऽसमर्थानि। अत्राह—यदि गुणाः परस्परं विरुद्धाः तर्हि कथं स्वमतेनैकमर्थं निष्पादयन्ति ? प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः। प्रदीपेन तुल्यं-प्रदीपवत्, अर्थतः=अर्थसाधनाय वृत्तिरिष्टा। यथा प्रदीपः परस्परविरुद्धतैलाग्निवर्तिसंयोगादर्थप्रकाशाञ्जनयति, एवं सत्त्वरजस्तमांसि परस्परं विरुद्धान्यर्थं निष्पादयन्ति ॥ १३ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थ—[ग्यारहवीं कारिका में कथित 'त्रिगुणत्वम्' के आधार पर ईश्वरकृष्ण बारहवीं कारिका में त्रिगुण के स्वरूप, प्रयोजन एवं उनकी व्यापार प्रद्धति पर प्रकाश डाल चुके हैं, लेकिन वे गुण कौन से हैं अर्थात् उनका क्या नाम है ?—यह नहीं बतलाया है। अतः वर्तमान कारिका द्वारा ईश्वरकृष्ण उक्त जिज्ञासा को—'स्थाणुनिखननन्याय' से गुणों के स्वरूप का विशदीकरण करते हुए—दूर करते हैं। अथवा ऐसा कहा जा सकता है कि अभी

१· एवकारः भिन्नक्रमः इति। वरणकपदार्थेन तदर्थान्वयी न अपितु तमः पदार्थेनेत्यर्थः—(सु. पृ. ९९)।

२. सतो भावः सत्त्वम्।

तक प्रकाशादि के कर्त्ताओं का पृथङ्-निर्देश नहीं हो पाया है इसलिये ईश्वरकृष्ण प्रस्तुतकारिका के लिये प्रवृत्त हुए]

सत्त्वादि 'गुण' अपने अभिनय की रङ्गस्थली शरीर (सूक्ष्मशरीरविशिष्ट स्थूल शरीर) को बनाते हैं। अर्थात् शरीर में स्वरूप सम्बन्ध से अधिष्ठित होकर अपने अभिनय का प्रदर्शन करते हैं। फलस्वरूप अधिष्ठानभूत शरीर में समयानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की चेष्टाएं दृग्गत होती हैं।

जिस समय शरीर में अन्य दो गुणों की अपेक्षा सत्त्वगुण की मात्रा (परिमाण) अधिक रहती है, उस समय शरीर का अङ्ग-प्रत्यङ्ग अत्यन्त लघु (हल्का) हो जाता है। बुद्धि में विषयज्ञान का प्रकाश होता है तथा इन्द्रियों में प्रसन्नता का सञ्चार होता है। इसीलिये सत्त्वगुण को 'लघु' एवं प्रकाशक कहा गया है।

जिस समय शरीर में अन्य दो गुणों की अपेक्षा रजोगुण की मात्रा अधिक रहती है उस समय शरीर का रोम-रोम उत्तेजना से भर उठता है। इस अवस्था में व्यक्ति युयुत्सु प्रकृति का होता है। जैसे एक बैल दूसरे बैल को देखकर लड़ने के लिये उद्यत हो जाता है। उसी प्रकार रजोगुण के प्राधान्य काल में व्यक्ति अवसर पाते ही दूसरे पर बरस पड़ता है। इस अवस्था में चित्त अत्यन्त चञ्चल रहता है। अतः रजोगुण 'उपष्टम्भक' एवं 'चल' कहा गया है।

जिस समय शरीर में अन्य दो गुणों की अपेक्षा तमोगुण की मात्रा अधिक रहती है, उस समय शरीर का अङ्ग-प्रत्यङ्ग अत्यन्त भारी हो जाता है। तम-आच्छादित शरीर की इन्द्रियां सूझ-बूझ खो बैठती हैं। अर्थात् अलसाई इन्द्रियां अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में अक्षम हो जाती हैं। अतः तमोगुण को 'गुरु' एवं 'आवरक' कहा गया है।

उपकार्य-उपकारक भाव संबन्ध से गुणों की लक्ष्यसिद्धि में प्रदीप का दृष्टान्तः—यद्यपि गुणों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है, फिर भी ये प्रदीप[1] की तरह एक दूसरे के उपकारक होकर लक्ष्य-सिद्ध्यर्थ प्रवृत्त होते हैं। जिस प्रकार रूई (वर्त्ति), तेल तथा अग्नि परस्पर विरोधी पदार्थ हैं (बत्ती की विरोधिनी अग्नि है, क्योंकि अग्नि केवल बत्ती को क्षण भर में जला डालती है। अग्नि का विरोधी तेल है, क्योंकि अग्नि के ऊपर तेल पड़ते ही वह (अग्नि)

---

१. प्रदीपन्यायः यत्राऽन्योन्यविरुद्धानामपि संभूयैककार्यकारित्वं। तत्र सञ्चरतीति। तथा हि वर्तितैले चाग्निविरोधिनी, वर्तितैलाऽग्नायः सर्वे परस्परं विरोधिनः सम्भूयैकं प्रकाशलक्षणं कार्यं कुर्वन्ति तथा सत्त्वरजस्तमांसि परस्परं विरुद्धान्यपि सम्भूयैकं देहादिकं प्रवृत्त्यादिकं च कार्यं जनयन्तीति।

बुझ जाती है। बत्ती तेल को सुखाने के कारण तेल की विरोधनी है) फिर भी, सुव्यवस्थित ढंग से मिलकर तीनों अन्धकार को दूर करते ही हैं। फलतः सम्पूर्ण-पदार्थ आलोकित होने लगते हैं। इसी प्रकार सांख्ययोगशास्त्र के अनुसार परस्पर विरोधी सत्त्वादि तीनों गुण मिलकर पुरुषार्थ के साधन माने गये हैं[1] ॥ १३ ॥

[व्यक्ताव्यक्त में 'अविवेकित्व' आदि धर्मों की सिद्धि]

अविवेक्यादेः सिद्धिस्त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययाभावात् ।
कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥१४॥

अन्वयः—[अव्यक्तादौ] अविवेक्यादेः सिद्धिः त्रैगुण्यात् [तथा] तद्विपर्ययाभावात्। कार्यस्य कारणगुणात्मकत्वात् अव्यक्तम् अपि सिद्धम् [भवति]॥१४॥

कारिकार्थः—अव्यक्त = प्रकृति तथा व्यक्त=महदादि के त्रिगुणात्मक होने से उनमें 'अविवेकित्व' आदि धर्मों की सिद्धि होती है अर्थात् अव्यक्तादि में त्रैगुण्याभाव का अभाव रहने से अविवेकित्व आदि की सत्ता अनुमित होती है। कारण के धर्मों से कार्य के युक्त होने से महदादि को कारणभूता त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी सिद्ध होती है ॥ १४ ॥

भाष्यम्—अन्तरप्रश्नो भवति-'त्रिगुणमविवेकि विषय' इत्यादिना प्रधानं, व्यक्तं च व्याख्यातम्। तत्र प्रधानम्, उपलभ्यमानं महदादि च त्रिगुणम्, अविवेक्यादीति च कथमवगम्यते ? तत्राह—योऽयमविवेक्यादिर्गुणः स त्रैगुण्यात्। महदादौ व्यक्तेनायं सिद्ध्यति, अत्रोच्यते—तद्विपर्ययाभावात्। तस्य विपर्ययः तद्विपर्ययः तस्याऽभावः तद्विपर्ययाऽभावः, तस्मात् सिद्धमव्यक्तम्। यथा—यत्रैव तन्तवस्तत्रैव पटः, अन्ये तन्तवोऽन्यः पटो न, कुतः ?, तद्विपर्ययाऽभावात्। एवं व्यक्तादव्यक्तमासन्नं भवति। दूरं प्रधानमासन्नं व्यक्तं, यो व्यक्तं पश्यति स प्रधानमपि पश्यति, तद्विपर्ययाऽभावात्। इतश्चाऽव्यक्तं सिद्धं—कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्य। लोके यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमपि, यथा कृष्णेभ्यस्तन्तुभ्यः कृष्ण एव पटो भवति। एवं महदादि लिङ्गम्—अविवेकि, विषयः, सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि। यदात्मकं लिङ्गं तदात्मकमव्यक्तमपि सिद्धम्॥ १४ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थ—भारतीय दर्शन की यह विशेषता है कि तत्-तत् दर्शनों के प्रवर्तक एवं प्रचारक दार्शनिकों ने मिलिट्री आर्डर की भांति

---

१. सत्त्वादिगुणानां विषये भगवतः मनोः वचनम्—
सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन् विद्यादात्मनो गुणान्।
यैर्व्याप्येमान् स्थितो भावान् महान् सर्वानशेषतः—(मनुः १२।२४)।

अपना-अपना मत मानने की आज्ञा पाठकों को नहीं दी है अर्थात् उन्हें अपना मत मानने के लिए बाध्य नहीं किया है, अपितु वे स्वमत को युक्तिसहित प्रतिष्ठापित करते हैं। जिन युक्तियों से प्रभावित होकर पाठकों की यथार्थपक्षपातिनी बुद्धि स्वतः उस ओर झुक जाती है। प्रस्तुत सन्दर्भ में ईश्वरकृष्ण व्यक्ताव्यक्त जड़ पदार्थों के लिये की गई 'अविवेकित्वादि' प्रतिज्ञा को अनुमान प्रयोग के द्वारा प्रामाणिक सिद्ध करते हैं]

पिछली दो कारिकाओं द्वारा संसार के यच्च-यावत् जड़ पदार्थों को त्रिगुणात्मक सिद्ध किया गया है। पदार्थों में निहित इसी त्रिगुण धर्म के द्वारा उनमें 'अविवेकित्व' आदि धर्मों को सिद्धि की जाती है। धूम एवं वह्नि के व्याप्ति-संवन्ध[1] की भांति त्रिगुण एवं अविवेकी आदि धर्मों में भी व्याप्तिसंवन्ध है। अन्वयव्याप्ति का स्वरूप है—जहां त्रिगुणत्व' धर्म रहता है वहां, 'अविवेकित्व' आदि धर्म भी अवश्य रहते हैं। जैसे घट। इसी प्रकार महदादि तत्त्वों में विद्यमान 'त्रिगुणत्व' धर्म से उनमें 'अविवेकित्व' आदि धर्म भी अनुमित होते हैं। व्यतिरेकव्याप्ति का स्वरूप है—जहां वह्न्यभाव रहता है, वहां धूमाभाव भी अवश्य रहता है अथवा जहां तन्तु नहीं है, वहां पट भी नहीं दिखलाई पड़ता है। इसी प्रकार जहां 'त्रिगुणत्व' नहीं है, वहां 'अविवेकित्व' आदि का भी अभाव रहता है, जैसे 'पुरुष'। कारिका में प्रयुक्त 'तत्' पद का अर्थ त्रिगुणत्व है, त्रिगुणत्व का विपर्यय अर्थात् अभाव त्रिगुणत्वाभाव हुआ, इस अभाव का भी अभाव—यह 'तद्विपर्ययाऽभावात्—इस समस्त पद का अर्थ हुआ। इस प्रकार व्यतिरेक-व्याप्तिमुखेन भी त्रिगुणस्वरूप महदादि व्यक्त पदार्थों में 'अविवेकित्व' आदि धर्मों का अनुमान किया जाता है।

कार्य-कारण-संबन्ध का नियामक है—कार्य में कारण के धर्मों का स्वरूप-सम्बन्ध से रहना अर्थात् वास्तविक रूप से अनुप्रविष्ट होना। जैसे नीलतन्तु का नैल्य रूप उसके कार्य पट में दिखाई पड़ता है। नीलतन्तुओं से श्वेतवस्त्र की अभिव्यक्ति नहीं होती है। इस लोकानुभव से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि महदादि व्यक्त पदार्थों के त्रिगुणात्मक होने से उनका कारणभूत अव्यक्त प्रधान

---

१. बौद्धमते—'कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्' ॥ (प्र. वा. १।३३),
न्यायमते—'व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्नसंबन्ध उदाहृतः।,
'अथवा हेतुमन्निष्ठविरहाऽप्रतियोगिना।
साध्येन हेतोरैकाधिकरण्यं व्याप्तिरुच्यते—(मुक्ता. का. ६८-६९)।

(प्रकृति) तत्त्व भी अवश्य त्रिगुणात्मक होगा। इस प्रकार व्यक्ताव्यक्त जड़ पदार्थों में 'अविवेकित्व' आदि धर्म अनुमित होते हैं॥ १४॥

[अव्यक्त की सिद्धि]

भेदानां परिमाणात्, समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य॥ १५॥

अन्वय—भेदानां परिमाणात्, समन्वयात्, शक्तितः प्रवृत्तेः, कारणकार्यविभागात्, वैश्वरूप्यस्य अविभागात् च कारणम् अव्यक्तम् अस्ति॥ १५॥

कारिकार्थ—कार्यों का सीमित परिमाण होने से, कार्य-कारण में समानरूपता रहने से, कारणनिष्ठशक्ति से कार्य की प्रवृत्ति = अभिव्यक्ति होने से, कार्य-कारण में भिन्नता रहने से तथा नानाविध कार्यों के साथ कारण की अभिन्नता रहने से बुद्धि आदि समस्त व्यक्त पदार्थों (भेदों = कार्यों) का अकेला अव्यक्त प्रधान (प्रकृत्ति) मूलकारण सिद्ध होता है॥ १५॥

भाष्यम्—'त्रैगुण्यादविवेक्यादिर्व्यक्ते सिद्धस्तद्विपर्ययाभावात्' एवं 'कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्ध' मित्येतन्मिथ्या, लोके यन्नोपलभ्यते तन्नास्तीति न वाच्यं, सतोऽपि पाषाणगन्धादेरनुपलम्भात्। एवं प्रधानमप्यस्ति, किन्तु नोपलभ्यते, तदाह-कारणमस्त्यव्यक्तमिति क्रियाकारकसम्बन्धः। भेदानां परिमाणात् लोके यत्र कर्तास्ति तस्य परिमाणं दृष्टं, यथा कुलालः परिमितैर्मृत्पिण्डैः परिमितानेव घटान् करोति। एवं महदपि = महदादि लिङ्गं परिमितं—भेदतः। प्रधानकार्यम्—एका बुद्धिरेकोऽहङ्कारः, पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि, पञ्च महाभूतानीति। एवं भेदानां परिमाणादस्ति प्रधानं कारणं, यद्व्यक्तं परिमितमुत्पादयति। यदि प्रधानं न स्यात् तदा निष्परिमाणमिदंव्यक्तमपि न स्यात्, परिमाणाच्च भेदानामस्ति प्रधानं यस्मात् व्यक्तमुत्पन्नम्। तथा—समन्वयात् इह लोके प्रसिद्धिर्दृष्टा, तथा व्रतधारिणं वटुं दृष्ट्वा समन्वयति—'नूनमस्य पितरौ ब्राह्मणा'विति। एवमिदं त्रिगुणं महदादिलिङ्गं दृष्ट्वा साधयामोऽस्य यत् 'कारणं भविष्यती'ति, अतः समन्वयादस्ति प्रधानम्। तथा-शक्तितः प्रवृत्तेश्च—इह यो यस्मिन् शक्तः स तस्मिन्नेवार्थे प्रवर्तते, यथा कुलालो घटस्य करणे समर्थो घटमेव करोति न पटं, रथं वा। तथा अस्ति प्रधानं कारणं, कुतः? कारणकार्यविभागात्। करोतीति-कारणम्। क्रियत इति कार्यम्। कारणस्य, कार्यस्य च विभागो, यथा-घटो दधिमधूदकपयसां धारणे समर्थो, न तथा तत्कारणं, मृत्पिण्डो वा घटं निष्पादयति, न चैवं घटो मृत्पिण्डम्। एवं महदादि लिङ्गं

दृष्ट्वाऽनुमीयते, 'अस्ति विभक्तं तत्कारणं यस्य विभाग इदं व्यक्त' मिति। इतश्च—अविभागात् वैश्वरूप्यस्य — विश्वं = जगत्, तस्य रूपं = व्यक्तिः। विश्वरूपस्य भावो-वैश्वरूपं, तस्याऽविभागादस्ति प्रधानम्। यस्मात् त्रैलोक्यस्य पञ्चानां पृथिव्यादीनां महाभूतानां परस्परं विभागो नास्ति, महाभूतेष्वन्तर्भूतास्त्रयो लोका इति, पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमित्येतानि पञ्चमहाभूतानि प्रलयकाले सृष्टिक्रमणैवाऽविभागं यान्ति तन्मात्रेषु परिणामिषु, तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि चाहङ्कारे, अहङ्कारो-बुद्धौ, बुद्धिः-प्रधाने। एवं त्रयो लोकाः प्रलयकाले प्रकृताव-विभागं गच्छन्ति, तस्मादविभागात् क्षीरदधिवद् व्यक्ताऽव्यक्तयोरस्त्यव्यक्तं कारणम् ॥ १५ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[पीछे व्यक्त तथा उसके कारण अव्यक्त को सप्रमाण सिद्ध करने का प्रयास किया गया, फिर भी जिज्ञासुओं को अव्यक्त की सत्ता में, उसका प्रत्यक्ष न हो पाने के कारण सन्देह बना रहता है। अतः जिज्ञासुओं में विश्वास जाग्रत् कराने के लिये ईश्वरकृष्ण 'व्यक्त पदार्थों का मूल-कारण अव्यक्त है'—इस दृष्टि-बिन्दु से पुनः प्रधान की सत्ता सिद्ध कर रहे हैं]

आचार्य गौडपाद लिखते हैं कि लोक में जिसकी उपलब्धि नहीं होती है, वह पदार्थ है ही नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कभी-कभी ऐसा भी देखने में आता है कि अस्तित्ववान् पदार्थ भी दिखलाई नहीं पड़ता है। जैसे पाषाण में निहित गन्ध की उपलब्धि नहीं होती है। अतः प्रतीयमान् न होने से अव्यक्त प्रकृति की सत्ता को सन्दिग्ध समझना उचित नहीं है। कार्य-कारण सिद्धान्त पर आधारित निम्नांकित हेतुओं से अव्यक्त प्रकृति को सिद्ध किया जा सकता है—

परिमाणात्:—लोक में जितने भी कर्त्ता (कारण) दिखाई पड़ते हैं, उन सबका सीमित परिमाण होता है। जैसे कुम्भकार सीमित मृत्पिण्ड से सीमित घट का निर्माण करता है। इसी प्रकार बुद्धि (महत्) से लेकर महाभूतपर्यन्त यच्च-यावत् पदार्थ भी परिमित परिमाण वाले हैं। कारिका में प्रयुक्त 'परिमाण' शब्द से 'सीमित परिमाण' को लिया गया है। अर्थात् जो व्यापक न होकर व्याप्य हो। 'व्यापक' शब्द का अर्थ 'विभु' है और 'व्याप्य' शब्द 'परिच्छिन्न' का बोध कराता है। यद्यपि महदादि कारणों में भी अपने-अपने कार्य की दृष्टि से व्यापकता अवश्यमेव निहित है, तथापि इन पदार्थों में 'सातिशय व्यापकता' है। अतः ये परिमित-परिमाण के अन्तर्गत हैं। इन परिमित कार्यों से उनका अपरिमित (निरतिशय) कारण अव्यक्त अनुमित होता है, जो परिमित कार्यों को उत्पन्न करता है। यदि 'प्रधान' न होता तो महदादि व्यक्त पदार्थ भी दृष्टिपथ में

नहीं आ सकते थे। एतावता परिमित महदादि कार्यों का अपरिमित मूलकारण अव्यक्त (प्रकृति) सिद्ध होता है।

समन्वयात्:—'समन्वय' पद का अर्थ समरूपता [समानता] है। अर्थात् कार्यकारण की एकरूपता। जिस प्रकार किसी व्रतधारी वटु को देखकर उसका समन्वय ब्राह्मणत्वजाति विशिष्ट माता-पिता से किया जाता है। अर्थात् वटु के अनुरूप उसके जनक का अनुमान किया जाता है और वह यथार्थ भी रहता है। उसी प्रकार, यद्यपि अध्यवसायात्मक, अभिमानात्मक आदि अपने-अपने व्यापार की दृष्टि से महत्, अहंकार आदि तत्त्वों में पार्थक्य है, तथापि सुखदुःखमोह की एकरूपता से उनमें ऐक्य है। उक्त प्रकार की एकता को प्राप्त महदादि तेईस कार्य मूलकारण प्रकृति से अपना समन्वय स्थापित करते हैं। अर्थात् त्रिगुणात्मिका प्रकृति की सत्ता को परिपुष्ट करते हैं।

शक्तितः प्रवृत्तेः—जो जिसको (कार्य को) करने में समर्थ होता है, वह (कारण) उसी (कार्य) को करने के लिये प्रवृत्त होता है। जैसे घट के निर्माण में समर्थ कुम्भकार घट को ही बनाता है, पट या रथ को नहीं। प्रकारान्तर से इस प्रकार कहा जा सकता है कि—मृत्तिका में घट निर्माण की 'शक्ति' निहित रहने से कुलाल मृत्तिका से ही घट बनाता है, तन्तु इत्यादि से नहीं। इसी प्रकार महदादि तत्त्वों को उत्पन्न (अभिव्यक्त) करने की शक्ति भी किसी तत्त्व-विशेष में अवश्य निहित रहनी चाहिये, जो इन तत्त्वों का कारण बन सके। बस वही तत्त्वविशेष 'अव्यक्त' प्रकृति है, ऐसा अनुमित होता है। यदि कोई दुराग्रह करे कि 'अव्यक्त प्रकृति' को उत्पन्न करने की शक्ति भी किसी दूसरे तत्त्व में निहित मानी जाय, तो यह ठीक नहीं है। अन्यथा उस कल्पित तत्त्व के कारण की भी कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार कार्यकारण संबन्धपरम्परा का अन्त न हो सकेगा। इस अनवस्थादोष[1] से बचने के लिये महदादि के कारण रूप से अव्यक्त प्रकृति पर्यन्त ही मूलकारण की इतिश्री अनुमित होती है।

कारणकार्यविभागात्—जो करता है, उसे कारण कहते हैं और जो किया जाता है, वह कार्य कहलाता है। इस प्रकार कार्यकारण में भेद अत्यन्त स्फुट है। निम्नांकित उदाहरण के द्वारा कार्य-कारण का भेद समझ में आ सकता है—जिस प्रकार दधि, मधु, जल, दूध आदि को धारण करने में घट समर्थ होता है, लेकिन घट का कारण मृत्समुदाय दध्यादि के धारण में समर्थ

---

१. अनवस्था—क्लृप्तवस्तुसजातीयवस्तुपरंपराकल्पनस्य विरामाभावः। यथा जातौ जात्यन्तरं तत्रापि जात्यन्तरमित्येवं तत्र तत्र जात्यन्तरस्वीकारेऽनवस्था।

नहीं होता है। दूसरी ओर कारणभूत मृत्पिण्ड, 'घटोत्पत्ति' में सक्षम है, लेकिन कार्यभूत घट नहीं। इसी प्रकार महदादि कार्य को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि इन कार्यों से पृथक् कोई दूसरा इनका कारण (अव्यक्त) अवश्य है, जिसके विभागस्वरूप ये महदादि व्यक्त पदार्थ हैं। इस प्रकार कार्यकारण भेद के अनुसार महदादि कार्य से भिन्न उनका कारण अव्यक्त प्रकृति को मानना अपरिहार्य है।

वैश्वरूप्यस्य अविभागात् :—विश्वस्य भावः वैश्वं तद्रूपं वैश्वरूप्यं तस्य वैश्वरूप्यस्य। 'वैश्वरूप्य' पद का अर्थ है। 'नानारूप कार्य'। नानाविध कार्यों का अपने मूलकारण से अविभाग (अभेद) माना जाता है। इससे अव्यक्त प्रधान की सिद्धि होती है। कारण से कार्य का 'अविभाग' लयनिबन्धनपूर्वक होता है। सांख्ययोग की मान्यता के अनुसार कारण से कार्य का आविर्भाव[1] तथा कारण में ही कार्य का तिरोभाव होता है। आविर्भावकाल में कारण से कार्य के पृथक् दिखाई पड़ने से उनका (कार्य-कारण का) 'विभागात्मक सम्वन्ध' माना जाता है तथा तिरोभाव[2] काल में कारण से कार्य की पृथक् प्रतीति न हो पाने से दोनों का 'अविभागात्मक सम्बन्ध' माना जाता है। उदाहरण के लिये घट का मृत्तिका से ही विभाग (आविर्भाव) और मृत्तिका से अविभाग (उसी में तिरोभाव) रहता है। उसी प्रकार पञ्चमहाभूत का लय[3] पञ्चतन्मात्राओं में, पञ्चतन्मात्र एवं एकादश-इन्द्रियों का लय अहंकार में, अहंकार का लय बुद्धि में और बुद्धि का लय जिसमें होता है, वही प्रधान अव्यक्त तत्त्व है। लय की इतिश्री महाभूत से लेकर बुद्धिपर्यन्त पदार्थों की मानी गई है। इस प्रकार बुद्धि को साक्षात् तथा अहंकारादि तेईस कार्यों को परम्परया अपने में समाविष्ट करने वाली तथा स्वयं किसी में लीन (समाविष्ट, लय) न होने वाली अव्यक्त प्रकृति (प्रधान) की सत्ता अपरिहार्य है॥ १५॥

[प्रकृति-परिणाम की विधाएं]

कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्॥ १६॥

---

१. सांख्यास्तु प्रकाशात्मिका अभिव्यक्तिराविर्भावः। यथा कूर्मशरीरादङ्गानामाविर्भाव इत्याहुः। अर्थात् एकस्या मृदः सुवर्णस्य वा घटमुकुटादयो विशेषाः निःसरन्त आविर्भवन्त उत्पद्यन्त इत्युच्येत। न पुनरसतामुत्पादः सतां वा निरोध इति।

२. सांख्यास्तु अनभिव्यक्तिस्तिरोभावः इत्याहुः।

३. कार्यस्य कारणे सूक्ष्मीभावेनावस्थानं लयः।

अन्वयः—अव्यक्तं त्रिगुणतः समुदयात् च प्रवर्तते । (कार्यवैचित्र्ये हेतुमाह) प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् परिणामतः सलिलवत् ॥ १६ ॥

कारिकार्थः—त्रिगुण के पृथक्-पृथक् रूप से तथा समुदाय रूप से अव्यक्त प्रवृत्त होता है। [प्रकृति-परिणाम की द्वितीय विधा को स्पष्ट करते हैं] जल की भांति, त्रिगुणात्मिका प्रकृति का प्रत्येक गुण भिन्न-भिन्न आश्रय से अनेक रूपों में परिणत (परिवर्तित) होता है ॥ १६ ॥

भाष्यम्—अतश्च—अव्यक्तं प्रख्यातं कारणमस्ति, यस्मान्महदादि लिङ्गं प्रवर्तते। त्रिगुणतः = त्रिगुणात्, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानम्। तथा समुदयात्। यथा गङ्गास्रोतांसि त्रीणि रुद्रमूर्द्धनि पतितानि एकं स्रोतो जनयन्ति, एवं त्रिगुणमव्यक्तमेकं व्यक्तं जनयति। यथा वा तन्तवः समुदिताः पटं जनयन्ति, एवमव्यक्तं गुणसमुदयान्महदादि जनयतीति—त्रिगुणतः समुदयाच्च व्यक्तं जगत् प्रवर्तते। यस्मादेकस्मात् प्रधानाद् व्यक्तं तस्मादेक-रूपेण भवितव्यम्। नैष दोषः। परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रय-विशेषात्। एकस्मात् प्रधानात् त्रयो लोकाः समुत्पन्नास्तुल्यभावा न भवन्ति, देवाः सुखेन युक्ताः, मनुष्या दुःखेन, तिर्यञ्चो मोहेन। एकस्मात् प्रधानात् प्रवृत्तं व्यक्तं प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् परिणामतः सलिलवद्भवति। 'प्रतिप्रती'ति वीप्सा। गुणानामाश्रयो गुणाश्रयस्तद्विशेषः, तं गुणाश्रयविशेषं प्रतिनिधाय—प्रतिप्रति—गुणाश्रयविशेषपरिणामात् प्रवर्तते व्यक्तम्। यथा—आकाशादेकरसं सलिलं पतितं नानारूपात् संश्लेषाद्भिद्यते तत्तद्रसान्तरैः एवमेकस्मात् प्रधानात् प्रवृत्तास्त्रयो लोका नैकस्वभावा भवन्ति, देवेषु सत्त्वमुत्कटं, रजस्तमसी उदासीने, तेन तेऽत्यन्तसुखिनः। मनुष्येषु रज उत्कटं भवति, सत्त्वतमसी उदासीने, तेन तेऽत्यन्तदुखिनः। तिर्यक्षु तम उत्कटं भवति, सत्त्वरजसी उदासीने तेन तेऽत्यन्तमूढाः ॥ १६ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थ—[सम्पूर्ण जड़ात्मक जगत् अव्यक्त प्रकृति से सञ्चालित होता है। प्रकृति जगत् की कर्त्री, धर्त्री है, इसलिये उसे मूलकारण कहते हैं। गुण परिणामशील हैं। अतः तद्रूपा प्रकृति भी परिणामशीला है। एतावता प्रकृति परिणाम व्यापारवती कही गई है। प्रस्तुत कारिका में प्रकृति की इसी कार्यकरण व्यापारपद्धति पर प्रकाश डाला जा रहा है।]

प्रकृति परिणाम की दो विधाएँ—कारिका में प्रयुक्त त्रिगुणतः पद का अर्थ त्रिगुणात्-अर्थात् 'त्रिगुणात्मक होने से' है। जिसमें सत्त्व, रजस् एवं तमस् तीनों गुण विद्यमान हैं, उसे त्रिगुण कहते हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण एवं

तमोगुण की साम्यावस्था 'प्रकृति' है। साम्यावस्था के समय प्रकृति का 'सदृश-परिणाम' चलता है। अर्थात् न्यूनाधिकभाव से नहीं, अपितु तुल्यशक्तिसम्पन्न तीनों गुण अपने-अपने में परिणत होते हुए प्रलय की स्थिति बनाये रखते हैं। इस प्रकार प्रलयकाल में प्रकृति की 'सदृशात्मक-परिणाम विधा स्वीकार की गई है। उत्पत्ति और प्रलय में परस्पर विरोध रहने से प्रकृति का 'जगदुत्पत्ति प्रयोजन 'सदृशपरिणामविधा' से सम्भव नहीं होता है। अतः कारिका में प्रयुक्त 'समुदयात्' पद से प्रकृति की दूसरी विसदृशपरिणामविधा की ओर संकेत मिलता है। आचार्य गौडपाद उक्त आशय को उदाहरण सहित स्पष्ट करते हैं। उनका वक्तव्य है कि—जिस प्रकार महादेव के मस्तक पर पंक्ति रूप से (पृथक्-पृथक् रूप से) पतित गंगाजल की तीन धारायें मिलकर एक महान् स्रोत को उत्पन्न करती हैं (अथवा असंख्य तन्तु मिलकर पट का निर्माण करते हैं। उसी प्रकार प्रकृति के तीनों गुण मिलकर अथवा प्रकृति अपने तीनों गुणों के समुदाय द्वारा एक व्यक्त को उत्पन्न करती है। यद्यपि महदादि भेद से प्रकृति के कार्य अनेक हैं, तथापि व्यक्तत्व जाति[1] सबमें अनुगत रहने से उनका एकत्व विवक्षित है। यहां इतना अधिक जान लेना आवश्यक है कि प्रकृति के तीनों गुण मिलकर 'सृष्टि-व्यापार' में तभी प्रवृत्त होते हैं, जब उनका 'साम्यपरिणाम' समाप्त हो जाता है। साम्यपरिणाम के अभिभवपूर्वक 'विरूपपरिणाम' के आविर्भावात्मक क्षण से सृष्ट्यारम्भ होता है। सृष्टिकाल में प्रत्येक गुण अन्य दो गुणों का अभिभव करने के लिये प्रयत्नशील हो जाता है। गुणों का यह संक्षोभात्मक संग्राम इतना गुप्त रहता है कि तीनों गुण आपस में एक दूसरे की मलिनता को नहीं जान पाते हैं। गुणों में यह गुप्त युद्ध इसलिए रहता है कि प्रत्येक गुण को यह भली-भांति ज्ञात रहता है कि मैं अपने उद्देश्य की 'पूर्ति में अकेला समर्थ नहीं हो पाऊंगा। मुझे अन्य दो गुणों की सहायता लेनी ही पड़ेगी। उधर हताश (अभिभूत) हुए अन्य दो गुण भी उक्त दृष्टि विन्दु से विजितगुण को सहायता पहुंचाते ही हैं और अवसर पाकर स्वयं भी आगे बढ़ जाते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि संक्षुभित गुणों के समुदाय रूप से कथित प्रकृति का 'सृष्टि व्यापार' उसकी 'विसदृश परिणाम विधा' की ओर इंगित करता हैं।

जगत् की नानारूपता का समर्थन:—अब यह प्रश्न उठता है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति से व्यक्त-संसार सृष्ट होता है, ऐसा 'तुष्यतु दुर्जनन्याय' से मान भी लिया जाय तो भी संसार को एक रूप होना चाहिये था? लेकिन वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। इस प्रश्न के समाधानार्थ कहते हैं—'परिणामतः सलिलवत्'

१. नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं सामान्यम् (जातिः)—मुक्ता. पृ. ५९।

कारण की एकता से जगत् की नानारूपता में कोई दोष नहीं है। जैसा कि हम देखते हैं कि एक ही प्रधान से समुत्पन्न तीनों लोकों में परस्पर भेद रहता है। देवता सुख का अनुभव करते हैं, मनुष्य दुःख से आक्रान्त रहते हैं तथा तिर्यक् पशु, पक्षी आदि मोहग्रस्त दिखाई पड़ते हैं। यह वैचित्र्य प्रकृति के गुणों की मात्रा में परिवर्तन होते रहने के कारण है। इस प्रकार एक-एक गुण की प्रधानता से नानारूपता को प्राप्त प्रकृति के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की सृष्टि होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्या आकाश से गिरी जल-विन्दुएं (समान आस्वाद वाली रहने पर भी) नीबू, आम, जामुन, अनार आदि के वीजों में प्रविष्ट होकर षड्रसता को प्राप्त नहीं करती हैं? वे अवश्य रसवैचित्र्य को ग्रहण करती हैं। अतः निष्कर्ष यह निकला कि समयानुसार प्रत्येक गुण की प्रधानता रहने से प्रकृतिसृष्ट त्रिगुणात्मिका सृष्टि की नानारूपता अत्यन्त स्वाभाविक है ॥ १७ ॥

[पुरुष की सिद्धि]

[1]संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १७ ॥

अन्वयः—पुरुषः अस्ति—संघातपरार्थत्वात्, त्रिगुणादिविपर्ययात्, अधिष्ठा-नात् भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च [इति पञ्च हेतोः] ॥ १७ ॥

कारिकार्थः—संहत्यकारी बुद्धयादि पदार्थ (स्वप्रयोजनकारी न होकर) पर अर्थात् अपने से भिन्न के लिये होने से, (पुरुष में) सत्त्वादि त्रिगुण का अत्यन्ताभाव रहने से, अधिष्ठेयों का अधिष्ठाता होने से, (भोग्यों का) भोक्ता होने से तथा कैवल्य-प्राप्त्यर्थ प्रवृत्त होने से जड़भिन्न चेतनतत्त्व पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है ॥ १७ ॥

भाष्यम्—एवमार्याद्वयेन प्रधानस्याऽस्तित्वमवगम्यते। इतश्चोत्तरं पुरुषाऽस्तित्वप्रतिपादनार्थमाह—यदुक्तं 'व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानात्मोक्षः प्राप्यत' इति, तत्र व्यक्तादनन्तरमव्यक्तं पञ्चभिः कारणैरधिगतं व्यक्तवत्। पुरुषोऽपि सूक्ष्मस्तस्याधुनाऽनुमितास्तित्वं प्रतिक्रियते। अस्ति पुरुषः कस्मात्? सङ्घातपरार्थत्वात्। योऽयं महदादिसङ्घातः स पुरुषार्थ इत्यनुमीयते, अचेतनत्वात्, पर्यङ्कवत्। यथा पर्यङ्कः प्रत्येकं गात्रोत्पलपादपीठ-तूली-प्रच्छादनपटोपधानसङ्घातः परार्थो, न हि स्वार्थः पर्यङ्कस्य, न हि किञ्चिदपि गात्रोत्पलाद्यवयवानां परस्परं कृत्यमस्ति।

१. संघातः समुदायः, समवायः, समुच्चयः पर्यायाः।

अतोऽवगम्यतेऽस्ति पुरुषो, यः पर्यङ्के शेते 'यस्यार्थं पर्यङ्कस्तत्परार्थम्। इदं शरीरं पञ्चानां महाभूतानां सङ्घातो वर्तते, अस्ति पुरुषो यस्येदं भोग्यं शरीरं भोग्यमहदादि सङ्घातरूपं समुत्पन्नमिति। इतश्चात्माऽस्ति–त्रिगुणादिविपर्ययात्। यदुक्तं पूर्वस्यामार्यायां 'त्रिगुणमविवेकि विषय' इत्यादि। तस्माद्विपर्ययात् येनोक्तं– 'तद्विपरीतस्तथा च पुमान्'। अधिष्ठानात् यथेह लङ्घनप्लवनधावनसमर्थैरश्वैर्युक्तो रथः सारथिनाऽधिष्ठितः प्रवर्तते, तथात्माऽधिष्ठानाच्छरीरमिति। तथा चोक्तं षष्ठितन्त्रे–पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते'। अतोऽस्त्यात्मा,–भोक्तृभावात् यथा मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायपड्रसोपबृंहितस्य संयुक्तस्यान्नस्य साध्यते, एवं महदालिङ्गस्य भोक्तृत्वाऽभावादस्ति स आत्मा यस्येदं भोग्यं शरीरमिति। इतश्च, कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च। केवलस्य भावः कैवल्यं; तन्निमित्तं यतः सर्वो विद्वानविद्वांश्च संसारसन्तानक्षयमिच्छति। एवमेभिर्हेतुभिरस्त्यात्मा शरीरव्यतिरिक्तः ॥१७॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[दूसरी, तीसरी तथा ग्यारहवीं कारिकाओं से हमें सांख्यसम्मत पुरुष तत्त्व की सूचना मिल चुकी है, लेकिन घट, पट, आदि की भांति पुरुष के न दिखलाई पड़ने से अर्थात् उसका शशश्रृङ्गग्राही ज्ञान न हो पाने से पुरुष विश्वासार्ह प्रतीत नहीं होता है। अव्यक्त प्रकृति की भांति पुरुष भी पुष्टीकरणार्थ अपेक्षित है। इस विचार को दृष्टिपथ में रखकर ही प्रकृति की सिद्धि से निवृत्त हुए ईश्वरकृष्ण पुरुष की सिद्धि के लिए प्रवृत्त हो रहे हैं]

कारिकाकार ने पुरुष की सिद्धि के लिए पांच हेतु उपन्यस्त किए हैं। वे इस प्रकार हैं—

संघातपरार्थत्वात्:—'संघात' का सामान्यतः अर्थ 'समुदाय' होता है। समुदाय जड़, चेतन किसी भी पदार्थ का हो सकता है। सांख्यशास्त्र में सत्त्व, रजस् तथा तमस् के संघात रूप अव्यक्त, महत् आदि चतुर्विंशति जड़ पदार्थों के अर्थ में 'संघात' शब्द परिभाषित है। एतावता यत्र-यत्र संघातत्वं तत्र-तत्र सुखदुःखमोहात्मकत्वम्'। सिद्धान्त है कि संघातवान् पदार्थ दूसरे के प्रयोजन के लिये होता है। जैसा कि हम देखते हैं कि गृह में सुसज्जित शय्या तथा सउकी प्रत्येक वस्तु बिछौना, आसन, उपधान रजाई आदि का अपने लिये या आपस में एक दूसरे के लिये कोई उपयोग नहीं रहता है। इन एकत्रित पदार्थों को देखकर यह अनुमान लगाया जाता है कि इस घर में अवश्य कोई व्यक्ति रहता होगा, जिसके लिये ये सब पदार्थ हैं। उपर्युक्त स्थूल दृष्टान्त से हम इस

निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सांख्यसम्मत चतुर्विंशति प्रकृति, महत् आदि संघातवान् जड़ पदार्थ भी अवश्यमेव किसी दूसरे के लिये हैं। जो 'पर' है, वही 'पुरुष' है। स्पष्ट शब्दों में महदादि भोग्य तत्त्वों से पाञ्चभौतिक शरीर की निर्मिति पुरुष के लिये ही हुई है। इस प्रकार मिलजुल कर कार्य करने वाले जड़ पदार्थ अपने से भिन्न 'पुरुष' की सत्ता का अनुमान कराते हैं।

त्रिगुणादिविपर्ययात्:—पीछे व्यक्ताव्यक्त से पुरुष के पृथक्करण में एक हेतु 'अत्रिगुणत्व' दिया गया है। उसी का यहां उपपादन किया जा रहा है। संघातवान् जड़ पदार्थों में ही त्रिगुणता निहित है, अन्यत्र नहीं। जिसमें त्रिगुणत्वादि का अभाव रहता है, वही जड़वर्ग से भिन्न चेतन तत्त्व पुरुष है। यहां विचारणीय यह है कि 'तुष्यतुदुर्जनन्याय'[१] से यदि 'पुरुष' को स्वीकार न किया जाय तो महदादि जड़ पदार्थों का अस्तित्व व्यर्थ प्रतीत होता है और यदि पुरुष को महदादि की भांति संघातवान् त्रिगुणात्मक—मान लिया जाय तो पुरुष, अव्यक्त आदि संहत पदार्थों के उपभोग के लिये किसी ऐसे अपर (दूसरे) तत्त्व की कल्पना करनी पड़ेगी, जो संहत न हो। क्योंकि संघत का व्यापार संघत के लिये नहीं देखा जाता है। और यदि पक्षपातिनी युक्ति न रहने से उस अपर तत्त्व को भी संघत माना जाय तो उससे भी पर असंहत तत्त्व की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार कल्पना का अन्त न होने से अनवस्थादोष उपस्थित होगा। इस अनवस्था दोष से परित्राण पाने के लिये तत्त्वदर्शियों ने त्रिगुणात्मक जड़ वर्ग से भिन्न अत्रिगुण, असंहत 'पुरुषतत्त्व की सत्ता स्वीकार की है।

अधिष्ठानात्—यद्यपि घट में जलाहरण सामर्थ्य निहित है, तथापि वह 'पुरुष' से अधिष्ठित होकर ही जल लाने की क्रिया को कर पाता है, अन्यथा नहीं। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि त्रिगुणात्मक महदादि जड़ पदार्थ चेतन 'पुरुष' से अधिष्ठित होकर ही परप्रयोजनार्थ समर्थ होते हैं। अन्यथा क्रियाशून्य जड़पदार्थों की क्या उपयोगिता? 'पुरुष' शरीररूपी रथ का सारथी है। गीता में कहा भी है—

'आत्मानं रथिनं विद्धि'। जिस प्रकार लांघने, कूदने, दौड़ने आदि में समर्थ घोड़ों से युक्त रथ, सारथी से सुनियन्त्रित होकर ही—सारथी को गन्तव्य स्थान तक पहुँचाने में—समर्थ होता है। उसी प्रकार आत्मा से अधिष्ठित होकर ही शरीर की प्रवृत्ति होती है। एतावता अधिष्ठीयमान् जड़ पदार्थों का अधिष्ठाता

---

१. यत्र प्रतिवाद्युक्तपक्षं दुष्टमपि वादिना प्रौढवादेनाङ्गीकृत्वापि दूषणान्तरं दीयते तत्रास्य प्रवृत्तिः।

चेतन पुरुष सिद्ध होता है।[1] षष्ठीतन्त्रकार को भी पुरुष के अधिष्ठातृत्व का सिद्धान्त मान्य है।

भोक्तृभावात्:—पीछे, व्यक्त एवं अव्यक्त पदार्थों के सामान्य धर्मों की चर्चा के प्रसङ्ग में कथित 'विषयत्व' धर्म के विषय में सूक्ष्मता से यदि विचार किया जाय तो हम पुरुष तत्त्व तक पहुँच सकते हैं। अर्थात् 'किसका विषय ? यह शङ्का 'पुरुष का विषय' उत्तर से दूर हो जाती है। 'वस्तुतः 'विषय' विषयी को तथा 'विषयी' विषय की अपेक्षा रखता है। क्योंकि दोनों में विषयविषयिभाव संबन्ध है। 'विषय' को भोग्य तथा विषयी को 'भोक्ता' भी कहते हैं। इस प्रकार उनका भोक्तृभोग्यभाव सम्बन्ध भी सुनिश्चित होता है। 'विषय' का भोक्ता तत्सजातीय दूसरा विषय नहीं हो सकता है, क्योंकि एक विषय में दूसरे विषय का उपभोग करने के लिए अपेक्षित सामर्थ्य कहां ? मधुरादि षड्रस युक्त अन्न भले ही सड़कर विकार को प्राप्त हो जाय, परन्तु पुरुष के अतिरिक्त और कोई जड़ पदार्थ उसे ग्रहण (आस्वादन) नहीं कर सकता है। यह प्रत्यक्ष दृष्टान्त, महदादि भोग्य पदार्थों के भोक्ता[2] पुरुष की ओर इङ्गित करता है।

कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः:—अचेतन घट को कभी भी इस भावना ने उद्विग्न नहीं किया कि 'हे प्रभु ! मुझे दुःख से छुटकारा मिले'। प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का क्षेत्र उसके लिये कहां ? यह क्षेत्र तो चेतन पदार्थ (पुरुष) के लिये ही है। शरीरधारी की अन्तःप्रतिष्ठित चेतन-शक्ति ही दुःख से मुक्ति पाने के लिये अकुलाती (व्याकुल होती) रहती है। तदर्थ वह प्रवृत्त भी होता है। फलस्वरूप भारतीय दर्शन का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार जड़ से भिन्न चेतन पदार्थ में ही कैवल्यार्थ[3] प्रवृत्ति रहने से 'पुरुष' की सत्ता अनुमित होती है।

एतावता उपर्युक्त पांच हेतुओं के द्वारा शरीरातिरिक्त 'पुरुष' का अस्तित्व निर्णीत हुआ ॥ १७ ॥

[पुरुषबहुत्ववाद]

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ १८ ॥

---

१. तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वम्—(सां. सू. १।९६)।
२. सांख्यशास्त्रे भोक्ता भोगकर्ता पुरुषः। सति भोगज्ञाने भोक्तृज्ञानं भवतीति तल्लक्षणमाह—चिदवसानो भोगः—(सां. सू. १।१०४)।
३. केवलस्य सर्वोपाधिवर्जितस्य भावः कैवल्यम्।

अन्वयः—पुरुषबहुत्वं सिद्धम्—जनन-मरण-करणानां प्रतिनियमात्, अयुगपत्प्रवृत्तेश्च, त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव [इति त्रयहेतोः] ॥ १८ ॥

कारिकार्थः—प्रत्येक शरीर में जन्म[1] मरण[2] एवं अन्तः बाह्येन्द्रियों (करणों)[3] की पृथक् २ व्यवस्था रहने से, तत्-तत् कार्यों के प्रति संसार के यच्चयावत् प्राणियों की एक साथ प्रवृत्ति न होने से तथा प्रत्येक शरीरधारी में त्रैगुण्य की विलक्षणता दिखलाई पड़ने से पुरुषबहुत्ववाद' सुस्थिर होता है ॥ १८ ॥

भाष्यम्—अथ सः किमेकः सर्वशरीरेऽधिष्ठाता मणिरसनात्मकसूत्रवत्, आहोस्विद् बहवः आत्मानः प्रतिशरीरमधिष्ठातार इति ? अत्रोच्यते—जन्म च मरणञ्च, करणानि च—जन्ममरणकरणानि, तेषां प्रतिनियमात्। प्रत्येकनियमादित्यर्थः। यद्येक एव आत्मा स्यात्तत एकस्य जन्मनि सर्वं एव जायेरन्; एकस्य मरणे सर्वेऽपि म्रियेरन्, एकस्य करणवैकल्ये बाधिर्याऽन्धत्वमूकत्वकुणित्वखञ्जत्वलक्षणे सर्वेऽपि बधिराऽन्धमूककुणिखञ्जाः स्युः, न चैवं भवति, तस्मात्–जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात् सिद्धम्। इतश्च,—अयुगपत्प्रवृत्तेश्च युगपत्=एककालं, न युगपद् अयुगपत् प्रवर्तनम्। यस्मादयुगपद्धर्मादिषु प्रवृत्तिर्दृश्यते एके धर्मे प्रवृत्ताः अन्येऽधर्मे, वैराग्येऽन्ये, ज्ञानेऽन्ये प्रवृत्ताः, तस्माद् अयुगपत् प्रवृत्तेश्च-बहवः इति सिद्धम्। किञ्चान्यत् त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव। त्रिगुणभावविपर्ययाच्च पुरुषबहुत्वं सिद्धम्। यथा सामान्ये जन्मनि एकः सात्त्विकः, सुखी, अन्यो राजसो दुःखी, अन्यस्तामसो मोहवान् एवं त्रैगुण्यविपर्ययाद्बहुत्वं सिद्धमिति ॥ १८ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[गत कारिका में व्यक्ताव्यक्त से भिन्न पुरुषतत्त्व की स्थापना की गई। उसमें शरीर के अधिष्ठाता रूप से पुरुष वर्णित

---

१. जातिविशिष्टाभिर्देहेन्द्रियमनोऽहंकारबुद्धिवेदनाभिः पुरुषस्याभिसंबन्धः —(सां. त. कौ पृ. १६३), आत्मनि देहसंबन्धो जन्म (ना. ती. कृत चं. पृ. १८), शरीरेन्द्रियबुद्धीनां निकायविशिष्टः प्रादुर्भावः (वात्स्या १।१।२), विजातीयशरीराद्यप्राणसंयोगः—(गौ. वृ. १।१।१९)।

२. उपात्तानां जातिविशिष्टदेहेन्द्रियमनोऽहंकारबुद्धिवेदनानां परित्यागो मरणम् (सां. त. कौ. पृ. १६३), जीवनादृष्टनाशः। मरणं च धर्माधर्माधीनम् (वै. उ. ६।२।१५)। तथा च सूत्रम् तत्संयोगो विभाग इति (वै ६।२।१५) स्कन्धनाशो मरणम् इति बौद्धा आहुः। केचित्तु देहात्मनोर्विच्छेदः प्राणवायोरुत्क्रमणरूपो व्यापारविशेषो वा मरणम् इत्याहुः।

३. आभ्यन्तरम् बाह्यम् इति द्विविधः कारणविशेषः करणम् इति सांख्या आहुः। सांख्यानामयं सिद्धान्तः कारणविशेषः करणम्। करणं त्रयोदशविधम्।

हुआ है। अब विचारणीय यह है कि जिस प्रकार मालागत सूत्र, अनेक मुक्तिकाओं को सुनियन्त्रित रखता है, क्या उसी प्रकार एक चेतन पुरुष प्रतीयमान असंख्य शरीरों का अधिष्ठाता है अथवा पुरुष के सम्बन्ध में दूसरी ही मान्यता है ? प्रस्तुत कारिका में 'पुरुषबहुत्ववाद' को सयुक्तिक सिद्ध करते हुए 'एक पुरुष-वाद' के प्रचारकों का खण्डन किया जा रहा है]

जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्ः—'पुरुष' से अधिष्ठित असंख्य शरीरों एवं तद्गतशक्तियों (इन्द्रियों) का आविर्भाव (जन्म) एवं तिरोभाव (शरीरपक्ष में मरण तथा इन्द्रियपक्ष में सामर्थ्य-राहित्य) भिन्न-भिन्न काल में दिखाई पड़ता है। इधर जन्म का शुभ समाचार और उधर मरण की दुःखद घटना व्यक्तियों को हर्षित एवं दुःखित करती रहती है। एक में इन्द्रिय-सम्पन्नता और दूसरे में इन्द्रिय विकलता दिखाई पड़ती है। इस विषमता के आधार पर सांख्यदार्शनिकों ने यह निश्चित किया है कि प्रतिशरीर में 'पुरुष' भिन्न-भिन्न है। यदि सभी शरीररूपी रथों का नियन्त्रक एक पुरुष होता तो; सारथि से प्रेरित रथ के युगल अश्वों के एक साथ दौड़ने, कूदने तथा रुकने की भांति जन्म, मरण की क्रियाएं समस्त प्राणियों के लिये समान होतीं। किसी एक का जन्म अथवा मरण नहीं होता। सब एकसाथ जन्म लेते और एक साथ मरते तथा सबमें युगपत् इन्द्रिय-वैकल्य व्याप्त होता। लेकिन ऐसा देखने में नहीं आता है। कर्म के सिद्धान्त पर आधारित जन्म-मरणादि का अन्तर प्राणियों में रहना अनिवार्य है। एतावता शरीर-भेद से पुरुष का भेद अर्थात् 'पुरुष का 'अनेकत्व' निर्णीत होता है।

अयुगपत्प्रवृत्तेः—'युगपत्' पद का अर्थ एक साथ अर्थात् तुल्य समय है, उसका अभाव 'अयुगपत्' है। ऐसा देखने में नहीं आता है कि संसार के यच्च-यावत् प्राणी एक-एक कार्य के लिये युगपत् प्रवृत्त होते हों। एक धार्मिक व्यक्ति कर्मानुष्ठान में रत दिखाई पड़ता है, दूसरा योग की कठोर क्रियायें साध रहा होता है, तीसरा ज्ञान – प्राप्ति में लगा रहता है और चौथा विषय-भोग को ही प्रधान समझता है। इस प्रकार भिन्न २ शरीरों से भिन्न २ प्रकार की क्रियायें होते देखकर यह अनुमान किया जाता है कि प्रत्येक शरीर पृथक्-पृथक् पुरुष से अधिष्ठित (नियन्त्रित) रहता है। एतावता 'पुरुषबहुत्ववाद' सिद्ध होता है।

त्रैगुण्यविपर्ययात्ः—यहां 'विपर्यय' पद का अर्थ अन्यथाभाव, विचित्रता, विलक्षणता आदि है। पुरुषाधिष्ठित प्रत्येक शरीर में यदि गुणों की मात्रा समान

अनुपात से रहती तो पुरुष के 'एकत्ववाद' पर विचार किया भी जा सकता था लेकिन स्थिति इससे भिन्न है। सुखी व्यक्तियों में सत्त्वगुण की अधिकता, दुःखी व्यक्तियों में रजोगुण की बहुलता तथा मोहग्रस्त व्यक्तियों में तमोगुण की प्रचुरता रहती है। इस प्रकार प्राणियों में उपलब्ध गुणवैषम्य के आधार पर भी 'पुरुषबहुत्ववाद' परिपुष्ट होता है ॥१८॥

[पुरुष के धर्म]

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥

अन्वयः—तस्मात् विपर्यासात् च अस्य पुरुषस्य साक्षित्वं, कैवल्यं, माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वम् अकर्तृभावः च सिद्धः [भवति] ॥ १९ ॥

कारिकार्थः—जड़भूत व्यक्त तथा अव्यक्त पदार्थों के त्रिगुणत्वादि नानाविध धर्म पुरुष में उपलब्ध न होने से पुरुष साक्षित्व[1], केवलत्व (कैवल्य), मध्यस्थत्व[2] (माध्यस्थ्य), द्रष्टृत्व तथा अकर्तृत्व स्वरूप का सिद्ध होता है।

भाष्यम्—'अकर्ता पुरुष' इत्येतदुच्यते—तस्माच्च विपर्यासात्। तस्माच्च = यथोक्तत्रैगुण्यविपर्यासाद्विपर्ययात्—निर्गुणः, पुरुषो, विवेकी, भोक्तेत्यादिगुणानां पुरुषस्य यो विपर्यास उक्तस्तस्मात्, सत्त्वरजस्तमःसु कर्तृभूतेषु साक्षित्वं सिद्धं पुरुषस्येति,–योऽयमधिकृतो बहुत्वं प्रति। गुणा एव कर्तारः प्रवर्तन्ते, साक्षी न प्रवर्तते, नापि निवर्तत एव। किञ्चान्यत्, कैवल्यं = केवलभावः। कैवल्यम् अन्यत्वमित्यर्थः। त्रिगुणेभ्यः केवलः=अन्यः। माध्यस्थ्यं—मध्यस्थभावः। परिव्राजकवत् मध्यस्थः पुरुषः। यथा कश्चित् परिव्राजको ग्रामीणेषु कर्षणार्थेषु प्रवृत्तेषु केवलो मध्यस्थः, पुरुषोऽप्येवं गुणेषु प्रवर्तमानेषु न प्रवर्तते, तस्माद्—द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च। यस्मान्मध्यस्थस्तस्माद् द्रष्टा' तस्मादकर्ता पुरुषस्तेषां कर्मणामिति, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः कर्मकर्तृभावेन प्रवर्तन्ते, न पुरुषः। एवं पुरुषस्याऽस्तित्वं च सिद्धम् ॥ १९ ॥

---

१. साक्षी बोद्धृत्वे सति अकर्ता। यथा कलहे प्रवृत्ते कश्चनान्यः पुरुषः साक्षी। अत्र सूत्रम् साक्षात्संबन्धात् साक्षित्वम् (सां॰ सू १।१६१)। मायावादिवेदान्तिमते उपाध्युपहितं केवलं चैतन्यं साक्षी।

२. मध्यस्थः = उदासीनः अर्थात् वादिप्रतिवादिनोरन्ययोर्वा पक्षप्रतिपक्षयोर्वाक्यादिविषयविमर्शपूर्वकं तत्त्वनिर्णायकः।

गौडपाद भाष्य का भावार्थ—[ग्यारहवीं कारिका द्वारा पुरुष में अनुपलब्ध धर्मों का निषेधमुखेन संकेत कर ईश्वरकृष्ण सम्प्रति व्यक्ताव्यक्त के धर्मों से तुलना करते हुए पुरुष का स्वरूप बतलाते हैं]

साक्षित्वधर्मः—व्यक्ताव्यक्त में त्रिगुणत्व; पुरुष में अत्रिगुणत्व, व्याक्ताव्यक्त में अविवेकित्व; पुरुष में विवेकित्व व्यक्ताव्यक्त में विषयत्व; पुरुष में अविषयत्व, व्यक्ताव्यक्त में सामान्यत्व; पुरुष में असामान्यत्व, व्यक्ताव्यक्त में जड़त्व; पुरुष में अजड़त्व (चेतनत्व), व्यक्ताव्यक्त में प्रसवधर्मित्व; पुरुष में अप्रसवधर्मित्व धर्म है। इस प्रकार पुरुष में 'त्रैगुण्य' आदि का विपर्यास (राहित्य) रहने से वह 'साक्षित्व' धर्मविशिष्ट सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि कर्तृत्वधर्म गुणों का ही है। वे ही प्रवृत्त एवं निवृत्त होते हैं। 'अत्रिगुण' पुरुष में कैसी कर्तृता ? उसमें प्रवृत्ति-निवृत्ति दृष्टिगत नहीं होती है। वह तो गुणों के व्यापारों (कार्यों) का साक्षी मात्र है और स्वयं प्रकृति उसे अपने विषय दिखलाती है। इसलिये पुरुष को 'दर्शितविषय' वाला भी कहा जाता है। वाचस्पति मिश्र 'अविषयत्व' धर्म के कारण पुरुष में 'साक्षित्व' धर्म अङ्गीकार करते हैं।

केवलत्वधर्म :—केवलस्य भावः कैवल्यम्' अर्थात् परपदार्थ के वास्तविक सम्पर्क से शून्य अतएव सर्वथा परिशुद्ध पदार्थ को ही 'केवल' कहते हैं (जिसमें दूसरे की सञ्ज्ञा नहीं रहती है) और उसका भाव 'कैवल्य' कहलाता है। पुरुष का 'कैवल्य' त्रिगुणरहित रहने से सिद्ध होता है और चूंकि त्रिगुणात्मक पदार्थ हो सुखदुःखमोहस्वरूप होता है, इससे पुरुष का 'त्रिविधदुःखराहित्य' रूप 'केवलत्व' भी सङ्गत हो जाता है।

मध्यस्थत्वधर्मः—पुरुष का 'अत्रिगुणत्व' धर्म उसके 'मध्यस्थत्व' धर्म का भी प्रत्यायक है। जिसमें त्रिगुणात्मकता नहीं, उसमें सुखदुःखमोहकता कैसे रह सकती है ? सुखो व्यक्ति में ही सुखग्रहण के प्रति अभिनिवेश तथा दुःखी व्यक्ति में ही दुःखविनाश के प्रति जागरूकता दिखाई पड़ती है। जिस प्रकार सुख-दुःख से विनिर्मुक्त यथार्थ संन्यासी को सुख-दुःख व्याप्त नहीं करते हैं, वह तो उदासीनभाव से (रागद्वेष से रहित होकर) ग्रामवासियों के क्रिया-कलापों का अवलोकन मात्र करता है। इसी प्रकार स्वरूप से उदासीन पुरुष गुणों के प्रवृत्त होने पर स्वयं भी प्रवृत्त होता है, ऐसी बात नहीं है। मध्यस्थ व्यक्ति में कैसी क्रियाशीलता ? एतावता अत्रिगुण पुरुष में 'मध्यस्थता' सिद्ध होती है।

द्रष्टृत्वधर्म—जिसमें साक्षित्व धर्म निहित है, उसमें 'द्रष्टृत्व' धर्म स्वतः सिद्ध है, क्योंकि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं अथवा दोनों एकरूप हैं।

अकर्तृत्वधर्मः—परिणामशील पदार्थों में ही कार्यकरणसामर्थ्य मानी गई है। जिसमें प्रसवधर्मिता ही नहीं, उसमें 'कर्तृत्वधर्म' कैसे रह सकता है? इस प्रकार परिणामरूपक्रिया से शून्य पुरुष 'अकर्तृत्व' धर्म का सिद्ध होता है। इस प्रकार पुरुष के धर्मों की व्याख्या की गई ॥ १९ ॥

[पुरुष में कर्तृत्वव्यवहार गौण]

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥

अन्वय—तस्मात् तत्संयोगात् अचेतनं लिङ्गं चेतनावत् इव [भवति] तथा गुणकर्तृत्वे अपि उदासीनः [पुरुषः] कर्ता इव भवति ॥ २० ॥

कारिकार्थः—त्रिगुणात्मिका परिणामशीला बुद्धि के 'कर्त्री' होने पर और अत्रिगुण अपरिणामी पुरुष के 'अकर्ता' होने पर भी दोनों के असाधारण (विलक्षण) संयोग के फलस्वरूप जड़ बुद्धि 'चेतनवती' प्रतीत होती है और कर्तृत्वधर्म त्रिगुणात्मक पदार्थों का होने पर भी उदासीन द्रष्टा तथा साक्षिमात्र पुरुष कर्ता की तरह अवभासित होता है ॥ २० ॥

भाष्यम्—यस्मादकर्ता पुरुषस्तत् कथमध्यवसायं करोति धर्मं करिष्याम्यधर्मं न करिष्यामी' त्यतः कर्ता भवति, न च कर्ता पुरुषः, एवमुभयथा दोषः स्यादिति। अत उच्यते—इह पुरुषश्चेतनावान्; तेन चेतनाऽवभाससंयुक्तं महदादि लिङ्गं चेतनावदिव भवति। यथा लोके घटः शीतसंयुक्तः शीतः, उष्णसंयुक्त उष्णः एवं महदादि लिङ्गं तस्य संयोगात् = पुरुषसंयोगात् चेतनावदिव भवति। तस्माद् गुणा अध्यवसायं कुर्वन्ति, न पुरुषः। यद्यपि लोके 'पुरुषः कर्ता, गन्तेत्यादि' प्रयुज्यते, तथाप्यकर्ता पुरुषः। कथम्? गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः। गुणानां कर्तृत्वे सति, (तथा =) उदासीनोऽपि पुरुषः कर्तेत भवति न कर्ता। अत्र दृष्टान्तो भवति,—यथाऽचौरश्चौरैः सह गृहीतश्चौर इत्यवगम्यते, एवं त्रयो गुणाः कर्तारः, तैः संयुक्तः पुरुषोऽकर्ताऽपि कर्ता भवति, कर्तृसंयोगात्? एवं व्यक्ताऽव्यक्त-ज्ञानां विभागो विख्यातः, यद्विभागान्मोक्षप्राप्तिरिति ॥ २० ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थ—[गतकारिका में पुष्टीकृत पुरुष के 'अकर्तृत्व' की मान्यता लोकव्यवहार के विरुद्ध प्रतीत होती है। व्यवहारदशा में, पुरुष धर्माधर्म

के ग्रहण तथा त्याग का निश्चय करता हुआ दिखाई पड़ता है। यदि पुरुष धर्म का पालन तथा अधर्म का परित्याग करने में समर्थ न होता तो उसमें इस प्रकार की कर्तव्य-बुद्धि कैसे दिखाई पड़ सकती थी? अतः पुरुष को कर्ता मानिये? प्रस्तुत कारिका द्वारा पुरुष में आपाततः प्रतीत होती हुई उक्त असंगतियों (विरोधों) का ही सामञ्जस्य किया जा रहा है]

दैनिक जीवन में जिस प्रकार जल आदि शीतल पदार्थ से संयुक्त घट शीतल हो जाता है अथवा उष्ण पदार्थ के सम्पर्क से घट में उष्णता की प्रतीति होती है। उसी प्रकार चैतन्यस्वरूप पुरुष से संयुक्त हुई जड़ बुद्धि (तथा उससे संबन्धित अन्य जड़ पदार्थ) चेतनवती प्रतीत होती है। वस्तुतः चेतनता उसका धर्म नहीं है। उसी प्रकार 'कर्तृत्व' पुरुष का धर्म नहीं है। 'कर्तृत्व' तो त्रिगुणात्मक जड़ पदार्थों का ही धर्म है। फिर भी अपने सम्पर्क (संयोग) से बुद्धि को प्रभावित करने वाला पुरुष, स्वयं भी बुद्धि से प्रभावित हुए विना (पृथक्) नहीं रह पाता है[1]। बुद्धि का कर्तृत्वधर्म पुरुष में प्रतिसंक्रमित होने से पुरुष कर्ता प्रतीत होता है। जिस प्रकार चोरों के साथ पकड़ा गया निर्दोषी व्यक्ति भी उसी वर्ग का समझ लिया जाता है। पुरुष में कर्तृत्वव्यवहार गौण है। अतः बुद्धि-पुरुष के संयोग के कारण होने वाली आभासिक (भ्रान्तिपूर्ण) प्रतीतियों का विवेचन करने में असमर्थ जनसमुदाय को सांख्यसम्मत पुरुष का 'अकर्तृत्ववाद' लोकव्यवहार के विरुद्ध नहीं समझना चाहिये।

इस प्रकार द्वितीय कारिका के चतुर्थ चरण 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्'— में कथित 'व्यक्त' 'अव्यक्त' तथा 'ज्ञ' पदार्थ के स्वरूपबोधार्थ तीसरी से लेकर बीसवीं तक की कारिकाएँ प्रस्तुत हुई हैं॥ २० ॥

[प्रकृति-पुरुष के संयोग का कारण]

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ २१ ॥

---

१. पुरुषस्य यत् कर्तृत्वं तद् बुद्ध्युपरागात्। बुद्धेश्च या चित्ता सा पुरुषसान्निध्यात्; एतदुभयं न वास्तवमित्यर्थः। यथाऽग्न्ययसोः परस्परं संयोगविशेषात् परस्पर-धर्मव्यवहार औपाधिकी, यथा वा जलसूर्ययोः संयोगात् परस्परधर्मारोपस्तथैव बुद्धिपुरुषयोरिति भावः (सां. प्र. भा. १।१६४)।

अन्वयः—पुरुषस्य कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य[1] दर्शनार्थं पङ्ग्वन्धवत् उभयोः संयोगः [भवति], सर्गः अपि तत्कृतः भवति ॥ २१ ॥

कारिकार्थः—पुरुष के द्वारा ही प्रधान का दर्शन हो सकने के लिये तथा प्रधान के द्वारा ही पुरुष का कैवल्य हो सकने के लिये [दर्शन एवं कैवल्य के इच्छुक] प्रकृति-पुरुष का संयोग होता है और उसी संयोग से सृष्टि भी होती है ॥२१॥

भाष्यम्—अथैतयोः प्रधान-पुरुषयोः किं हेतुः सङ्घातः ? उच्यते-पुरुषस्य प्रधानेन सह संयोगो दर्शनार्थम्। प्रकृतिं, महदादिकार्यं भूतपर्यन्तं पुरुषः पश्यति प्रधानस्यापि-पुरुषेण सह संयोगः कैवल्यार्थम्। स च एतदर्थं, संयोगः पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि द्रष्टव्यः। यथा एकः पङ्गुरेकश्चान्धः, एतौ द्वावपि गच्छन्तौ महता सामर्थ्येनाटव्यां सार्थस्य स्तेनकृतादुपप्लवात् स्वबन्धुपरित्यक्तौ दैवादितश्चेतश्च चेरतुः। स्वगत्या च तौ संयोगमुपयातौ। पुनस्तयोः स्ववचसोर्विश्वस्तत्वेन संयोगो गमनार्थं दर्शनार्थं च भवति। अन्धेन पङ्गुः स्कन्धमारोपितः, एवं शरीरारूढपङ्गुदर्शितेन मार्गेणाऽन्धो याति, पङ्गुश्चाऽन्धस्कन्धारूढः। एवं पुरुषे दर्शनशक्तिरस्ति, पङ्गुवत् न क्रिया, प्रधाने क्रियाशक्तिरस्त्यन्धवत्, न दर्शनशक्तिः। यथा वाऽनयोः पङ्ग्वन्धयो कृतार्थविभागो भविष्यतीप्सितस्थान-प्राप्तयोः. एवं प्रधानमपि पुरुषस्य मोक्षं कृत्वा निवर्तते, पुरुषोऽपि प्रधानं दृष्ट्वा कैवल्यं गच्छति, तयोः कृतार्थयोर्विभागो भविष्यति। किञ्चान्यत्—तत्कृतः सर्गः तेन संयोगेन कृतस्तत्कृतः, सर्गः = सृष्टिः। यथा स्त्री-पुरुषसंयोगात् सुतोत्पत्तिस्तथा प्रधानपुरुषं संयोगात् सर्गस्योत्पत्तिः ॥ २१ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—यह निश्चित जानिये कि लघु अथवा वृहद् प्रत्येक क्रिया के मूल में कोई न कोई प्रयोजन अवश्य निहित रहता है। फिर सभी क्रियाओं का मूल आधार (मूलभूत अर्थात् संसार दशा में ही प्राणी क्रियावान् होता है) प्रकृति-पुरुष का संयोग निष्प्रयोजन कैसे हो सकता है ? यहां दोनों ही अपने-अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये परमुखापेक्षी हैं। प्रस्तुत कारिका में ईश्वरकृष्ण अत्यन्त सटीक लौकिक उदाहरण द्वारा दोनों के परस्पर सापेक्ष अपने-अपने लक्ष्य को ही संयोग के हेतु रूप में उपन्यस्त करते हैं। वस्तुतः सांख्ययोगशास्त्र के अनुसार प्रकृति-पुरुष के इस संयोग का सर्वमूर्धन्य हेतु अविद्या है]

---

१. प्रधानस्येति कर्मणि षष्ठी। प्रधानस्य सर्वकारणस्य यद्दर्शनं तदर्थम्—(सां. त. कौ. पृ. १७३)।

'पुरुष' का 'प्रधान' के साथ संयोग दर्शन के लिये होता है। पुरुष के द्वारा ही प्रकृति, बुद्धि आदि भूतपर्यन्त समस्त जड़ पदार्थ देखे जाते हैं। प्रधान का भी पुरुष के साथ संयोग कैवल्य (मोक्ष-प्राप्ति) के लिये होता है। आचार्य गौडपाद की उपर्युक्त पंक्तियों का आशय यह है कि 'दर्शनार्थ' पद का अर्थ अपने (प्रकृति) में भोग्यत्व सिद्ध करने के लिये है तथा 'कैवल्यार्थ' पद का अर्थ अपने (पुरुष) को कैवल्य पद पर प्रतिष्ठित करने के लिये है। प्रकृति की भोग्यता पुरुषकर्तृक है अर्थात् प्रकृति पुरुषकर्तृक दर्शन का विषय बनती है। इस प्रकार भोग्यता का आश्रय बनने की इच्छुक प्रकृति का भोक्ता पुरुष के साथ सम्पर्क स्थापित करना स्वाभाविक है। पुरुष का 'केवलत्व' प्रकृतिकर्तृक है। सांख्यदर्शन की मान्यता के अनुसार प्रकृति तथा तज्जात जड़ पदार्थों से अपने में अत्यन्त भेद का अपरोक्षज्ञान होने पर ही 'पुरुष' अपने अभीष्ट (मोक्ष) को सिद्ध कर पाता है। अतः पुरुष 'प्रकृति' के स्वरूप को भली-भांति जान सके, तदर्थ वह भावनात्मक दृष्टि से प्रकृति के समीप आता है। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे के उपकारक बनकर वे संयुक्त होते हैं। 'प्रकृति-पुरुष' के संयोग[1] का स्वरूप क्या है ? यह अत्यन्त जटिल प्रश्न है।

दार्शनिक जगत् की भांति लौकिक जगत् में भी परस्पर सहायता की अपेक्षा रखने वाले व्यक्तियों में किस प्रकार मैत्री होती है, इसे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

एक समय की बात है कि दो असहाय व्यक्ति अन्ध एवं पङ्गु अपने-अपने साथियों के साथ कहीं जा रहे थे। इतने में दैववशात् चोरों के आक्रमण से भयभीय होकर सभी एक दूसरे को छोड़कर अपनी-अपनी प्राणरक्षा के लिये इतस्ततः भागने लगे। साथियों से छूट जाने पर वेचारा अन्धा मार्ग टटोलता हुआ इधर-उधर भटक रहा था। इतने में उसकी एक पङ्गु से भेंट हुई। बातचीत करने पर पता चला कि दोनों पर समान विपत्ति आ पड़ी है। उन्होंने आपस में एक-दूसरे की सहायता का प्रस्ताव रखा। चूंकि दोनों अकिञ्चनों को एक दूसरे की आवश्यकता थी इसलिये प्रस्ताव तुरन्त पास हो गया। पङ्गु चलने में असमर्थ था और अन्धा देखने में। अतः समझौता कर पङ्गु अन्धे की पीठ पर सवार हो गया और अन्धे को मार्ग-दर्शन करता रहा। इस प्रकार दोनों अपने-अपने गन्तव्य स्थल (घर) तक पहुँच पाये। इसी प्रकार पुरुष में दर्शनशक्ति है, लेकिन पङ्गुवत् उसमें क्रियाशक्ति नहीं है और प्रकृति में क्रियाशक्ति है किन्तु अन्धवत् उसमें दर्शन-

१. स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः—(यो. सू. २।२३)।

शक्ति नहीं है। अतः दोनों का मैत्री-सम्बन्ध कहा गया है। और जिस प्रकार अन्ध एवं पङ्गु अपने अपने निवास स्थान (निर्दिष्ट स्थल) पहुँच जाने पर अलग-अलग हो जाते हैं। इसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष को मोक्ष दिलाकर चरितार्थ हो जाती है और पुरुष भी कैवल्य प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। इस प्रकार अपने-अपने उद्देश्य की पूर्ति हो जाने पर दोनों का विशिष्ट संयोग समाप्त हो जाता है।

प्रकृति-पुरुष के संयोग का प्रतिफल 'सर्ग' (सृष्टि) है। आचार्य गौडपाद ने इसकी तुलना स्त्रीपुरुषसंयोग के प्रतिफल 'सन्तान' से दी है। लेकिन यह अत्यन्त सटीक दृष्टान्त नहीं है। स्त्री-पुरुष का भौतिक संयोग सांख्यशास्त्र के अलौकिक संयोग के समकक्ष नहीं है। यह एक विलक्षण संयोग है। सृष्टि अर्थात् सृष्टिगत पदार्थ प्रकृति-पुरुष के उद्देश्य की पूर्ति के मुख्यद्वार हैं। इनके बिना भोगापवर्ग की निष्पत्ति नहीं हो सकती है ॥ २१ ॥

[सृष्टि-व्यवस्था]

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ २२ ॥

अन्वयः—प्रकृतेः महान् , ततः [महतः] अहंकारः, तस्मात् [अहंकारात्] षोडशकः गणः, तस्मात् षोडशकात् अपि पञ्चभ्यः [पञ्चतन्मात्रेभ्यः] पञ्च भूतानि च [आविर्भवन्ति] ॥ २२ ॥

कारिकार्थः—प्रकृति से महान् (महत् = बुद्धि), महान् से अहंकार, अहंकार से एकादश इन्द्रिय तथा पञ्चतन्मात्रक सोलह तत्त्वों का समूह तथा सोलह पदार्थों में से केवल पञ्चतन्मात्राओं द्वारा पञ्चमहाभूतों का आविर्भाव (उत्पत्ति = अभिव्यक्ति) होता है ॥ २२ ॥

भाष्यम्—इदानीं सर्गविभागदर्शनार्थमाह—प्रकृतिः=प्रधानं, ब्रह्म, अव्यक्तं, बहुधानकं, मायेति पर्यायाः। अलिङ्गस्य प्रकृतेः सकाशान्महान्—उत्पद्यते। महान् , बुद्धिः, आसुरी, मतिः, ख्यातिर्ज्ञानमिति प्रज्ञापर्यायैरुत्पद्यते। तस्माच्च महतोऽहङ्कार उत्पद्यते। अहङ्कारो, भूतादिर्वैकृतस्तैजसोऽभिमान इति पर्यायाः। तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादहङ्कारात् षोडशकः—षोडशस्वरूपेण गण उत्पद्यते। स यथा—पञ्चतन्मात्राणि = शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमिति, 'तन्मात्र'—'सूक्ष्म'—पर्यायवाच्यानि। तत एकादशेन्द्रियाणि-श्रोत्रं, त्वक् , चक्षुः, जिह्वा, घ्राणमिति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। उभयात्मकमेकादशं मनश्च। एष षोडशको गणोऽहङ्कारादुत्पद्यते। किंच-पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि तस्मात्

षोडशकाद् गणात् पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः सकाशात् पञ्च वै महाभूतान्युत्पद्यन्ते। यदुक्तं-शब्दतन्मात्रादाकाशं, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, रूपतन्मात्रात्तेजः गन्धतन्मात्रात् पृथिवी, एवं पञ्चभ्यः परमाणुभ्यः-पञ्च महाभूतान्युत्पद्यन्ते ॥ २२ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[गतकारिका में प्रकृति-पुरुष के संयोग से सृष्टि बतलाई गई। प्रस्तुत कारिका में सृष्ट्यन्तर्वर्ती पदार्थों के आविर्भाव का क्रम तथा उनके विशिष्ट कारणों पर प्रकाश डाला जा रहा है]

प्रधान, ब्रह्म, अव्यक्त, बहुधानक तथा माया—प्रकृति के पर्याय हैं। सर्वप्रथम केवल कारणस्वरूप (मूलकारण) प्रधान से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व को बुद्धि, आसुरी, मति, ख्याति तथा प्रज्ञा नाम से पुकारा जाता है। बुद्धि से अहंकार तत्त्व की उत्पत्ति होती है। भूतादि, वैकृत, तैजस तथा अभिमान अहंकार के अन्य नाम हैं। अहंकार से सोलह तत्त्व उत्पन्न होते हैं। ये दो वर्गों में विभक्त हैं—इन्द्रियवर्ग तथा तन्मात्रवर्ग। इन्द्रियवर्ग के अन्तर्गत एकादश इन्द्रियां हैं। इन्द्रियां मुख्यतः तीन प्रकार की हैं—ज्ञानरूप, क्रियारूप तथा उभयरूप। ज्ञानरूप इन्द्रियां श्रोत्र त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण हैं। क्रियारूप इन्द्रियां वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ हैं। ज्ञानरूप तथा क्रियारूप अर्थात् उभयात्मक इन्द्रिय मन है। तन्मात्र वर्ग के अन्तर्गत पञ्च तन्मात्राएं हैं। इनके नाम शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र तथा गन्धतन्मात्र हैं। उपरिवर्णित षोडश तत्त्वों में से पञ्चतन्मात्राएँ पञ्चमहाभूत का कारण हैं। शब्दतन्मात्र से आकाशभूत, स्पर्शतन्मात्र से वायुभूत, रूपतन्मात्र से अग्निभूत, रसतन्मात्र से जलभूत तथा गन्धतन्मात्र से पृथ्वीभूत उत्पन्न होता है। उत्तरोत्तर तन्मात्राओं द्वारा स्वस्व भूत की उत्पत्ति होने में पूर्व-पूर्व तन्मात्राएँ सहायक होती हैं। इस प्रकार सांख्यशास्त्र में जिस पञ्चीकरणवाद की स्थापना हुई है, उसे अड़तीसवीं कारिका में स्पष्ट किया जाएगा।

इस सन्दर्भ में इतना विशेष ज्ञातव्य है कि एकादश इन्द्रियों से किसी भी तत्त्व की उत्पत्ति नहीं है और पञ्चमहाभूत से घट, पटादि अनेक पदार्थ उत्पन्न हुए जो दिखाई भी पड़ते हैं, वे भूतों से पृथक् नहीं अपितु तद्रूप ही हैं। उनमें भेद-प्रतीति भ्रममूलक है। सृष्टि-क्रम में वे ही कारण, अपने कार्यों के सहित परिगणित हुए हैं, जो तत्त्वान्तर को उत्पन्न करते हैं।[1] जैसे प्रकृतिकारण का

१. तत्त्वान्तरोपादानत्वं च प्रकृतित्वमिहाभिप्रेतम्......सर्वेषां गोघटादीनां स्थूलतेन्द्रियग्राह्यता च समेति न तत्त्वान्तरम्। यद्यपि च पृथिव्यादीनां गोघटवृक्षादयः विकाराः एवन्तद्विकारभेदानां पयोबीजादीनां दध्यङ्कुरादयः, तथाऽपि गवादयो बीजादयो वा न पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरम्—(सां. त. कौ. पृ. ३७)।

तत्त्वान्तरकार्य बुद्धि, बुद्धिकारण का तत्त्वान्तरकार्य अहंकार, अहंकारकारण का तत्त्वान्तरकार्य एकादश इन्द्रिय तथा पञ्चतन्मात्र एवं पञ्चतन्मात्रकारण का तत्त्वान्तरकार्य पञ्चमहाभूत है। इस प्रकार सांख्यशास्त्रीय सृष्टिक्रम सुव्यवस्थित है ॥२२॥

बुद्धि का स्वरूप

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥२३॥

अन्वयः—अध्यवसायो बुद्धिः, एतद्रूपं—धर्मो, ज्ञानं, विराग, ऐश्वर्यं सात्त्विकम् । अस्मात् विपर्यस्तं [रूपं अधर्मादि] तामसम् ॥२३॥

कारिकार्थ—बुद्धि[1], निश्चयात्मिका व्यापारवती है। इसके धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य सात्त्विकरूप हैं। धर्मादि के विपरीत अधर्म अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य तामसरूप हैं ॥ २३ ॥

भाष्यम्—यदुक्तं 'व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्ष' इति, तत्र महदादि भूतान्तं त्रयोविंशतिभेदं व्यक्तं व्याख्यातम्। अव्यक्तमपि 'भेदानां परिमाणात्' इत्यादिना व्याख्यातम्। पुरुषोऽपि 'सङ्घातपरार्थत्वात्' इत्यादिभिर्हेतुभिर्व्याख्यातः । एवमेतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि, यत्तैस्त्रैलोक्यं व्याप्तं जानाति, तस्य भावोऽस्तित्वम् । यथोक्तं—

'पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राऽऽश्रमे रतः ।
जटी, मुण्डी, शिखी वापि, मुच्यते नात्र संशयः ॥'

तानि यथा,-प्रकृतिः, पुरुषो, बुद्धिरहङ्कारः, पञ्च तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि इति । एतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि ।

तत्रोक्तं 'प्रकृतेर्महानुत्पद्यते'। तस्य महतः किं लक्षणमित्येतदाह-अध्यवसायो बुद्धिलक्षणम् । अध्यवसानम्-अध्यवसायः । यथा बीजे भविष्यद्वृत्तिकोऽहङ्कारस्तद्वद-ध्यवसायः-'अयं घटः' 'अयं पट' इत्येवमध्यवस्यति या सा 'बुद्धि'रिति लक्ष्यते ।

---

१. सांख्यास्तु सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिकाया अनादिपरिणामिनित्यव्यापिप्रकृतेर्जडाया आद्यः परिणामोऽन्तःकरणरूपो महत्तत्त्वापरपर्यायो बुद्धिः—(न्या. कु. १), मायावादिनस्तु निश्चयात्मकवृत्तियुतमन्तः करणं बुद्धिः इत्याहुः, अथवा वेदान्तिमते बुद्धिः सात्त्विकराजसतामसभेदेन त्रिविधा, न्यायमते बुद्धिर्द्विविधा नित्या अनित्या च। तत्र नित्या परमात्मनः। सा च साक्षात्काराभिधा प्रत्यक्षप्रमात्मिकैव। अनित्या तु जीवस्य। धर्मपत्नीभेद इति पौराणिका वदन्ति (भा. आ. अ. ६६)।

सा च बुद्धिरष्टाङ्गिका, सात्त्विक-तामसरूपभेदात्। तत्र बुद्धेः सात्त्विकं रूपं चतुर्विधं भवति। धर्मो, ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं चेति। तत्र धर्मो नाम—दयादानयमनियमलक्षणः। तत्र यमाः, नियमाश्च पातञ्जलेऽभिहिताः—'अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः'। 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'। ज्ञानं, प्रकाशोऽवगमो, भानमिति पर्यायाः। तच्च द्विविधं— बाह्यमाभ्यन्तरं चेति। तत्र बाह्यं नाम—वेदाः शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तच्छन्दोज्योतिषाख्यषडङ्गसहिताः, पुराणानि, न्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणि चेति। आभ्यन्तरं—प्रकृतिपुरुषज्ञानम्। इयं प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, अयं पुरुषः सिद्धो, निर्गुणो व्यापी, चेतन इति। तत्र बाह्यज्ञानेन लोकपङ्क्तिर्लोकानुराग इत्यर्थः। आभ्यन्तरेण ज्ञानेन मोक्ष इत्यर्थः। वैराग्यमपि द्विविधं—बाह्यमाभ्यन्तरं च। बाह्यं दृष्टविषयवैतृष्ण्यम्-अर्जन-रक्षण-क्षय-सङ्ग-हिंसा-दोष-दर्शनाद्विरक्तस्य। आभ्यन्तरं 'प्रधानमप्यत्र स्वप्नेन्द्रजाल-सदृश'मिति विरक्तस्य मोक्षेप्सोर्यदुत्पद्यते तदाभ्यन्तरं वैराग्यम्। ऐश्वर्यं=ईश्वर-भावः। तच्चाष्टगुणम्—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यमीशित्वं, वशित्वं, यत्रकामावसायित्वं चेति। अणोर्भावोऽणिमा सूक्ष्मो भूत्वा जगति विचरतीति। महिमा महान् भूत्वा विचरतीति। लघिमा-मृणालीतूलावयवादपि लघुतया पुष्प-केसराग्रेष्वपि तिष्ठति। प्राप्तिः—अभिमतं वस्तु यत्र तत्रावस्थितः प्राप्नोति। प्राकाम्यं—प्रकामतो यदेवेच्छति तदेव विदधाति। ईशित्वं-प्रभुतया त्रैलोक्यमपीष्टे। वशित्वं-सर्वं वशीभवति। यत्रकामावसायित्वं-ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं यत्र कामस्तत्रैवास्य स्वेच्छया स्थानासनविहारानाचरतीति। चत्वारि एतानि बुद्धेः सात्त्विकानि रूपाणि। यदा सत्त्वेन रजस्तमसी अभिभूते, तदा पुमान् बुद्धिगुणान् धर्मादीनाप्नोति। किञ्चान्यत्—तामसमस्माद्विपर्यस्तम्। अस्माद्धर्मादेर्विपरीतं तामसं बुद्धिरूपम्। तत्र धर्माद्विपरीतोऽधर्मः एवमज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यमिति। एवं सात्त्विकैस्तामसैः स्वरूपैरष्टाङ्गा बुद्धिस्त्रिगुणादव्यक्तादुत्पद्यते ॥ २३ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थ—[पीछे, सांख्यीय तत्त्वों पर विचार करते हुए कई बार मोक्ष के साधन—व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ के अपरोक्षज्ञान—का निर्देश किया गया तथा तत्संबन्धित अपेक्षित सूचनाएं भी दी गईं। जैसे द ऩवीं, ग्यारहवीं तथा उन्नीसवीं कारिकाओं द्वारा व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ के धर्मों पर प्रकाश डाला गया। पन्द्रहवीं कारिका से अव्यक्त तथा सत्रहवीं कारिका से पुरुष की अनुमानतः सिद्धि भी की गई। लेकिन सत्त्वपुरुषान्यताख्याति' के लिये इतनी ही जानकारी पर्याप्त न होने से सम्प्रति, ईश्वरकृष्ण व्यक्त वर्ग के बुद्धि आदि प्रत्येक तत्त्व का पृथक्-पृथक् स्वरूप विस्तारपूर्वक बतलाने जा रहे हैं]

बुद्धि का लक्षण :—जगत् में सर्वप्रथम, बुद्धितत्त्व का आविर्भाव हुआ, इसका आविर्भाविता 'प्रकृति' है। बुद्धि निश्चयात्मक (अध्यवसात्मक) ज्ञान की जनिका है। बुद्धि को निश्चय अथवा निश्चय को बुद्धि कहकर यदि क्रियाक्रियावान् में अभेद विवक्षा की जाय तो अपसिद्धान्तापत्ति[1] (असङ्गति) न होगी। 'अध्यवसाय' बुद्धि का स्वरूपलक्षण है। जिस प्रकार बीज में, भविष्याम वृक्ष के पूर्वरूप अङ्कुर की सत्ता निर्धारित (निश्चित) रहती है उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ के विषय में भी यह घट है', यह पट है—ऐसा निर्धारण रहता है। घट में ही घटविषयक निश्चयात्मक ज्ञान जिसे होता है, उसे बुद्धि कहते हैं।

बुद्धि के धर्म—त्रिगुणात्मिका प्रकृति से समुत्पन्न बुद्धि भी त्रिगुणात्मिका है। बुद्धि के आठ धर्म हैं। चार धर्म सत्त्वगुण प्रधान हैं तथा चार धर्म तमोगुणप्रधान हैं। रजोगुण दोनों प्रकार के धर्मों का प्रेरक होने से उन्हीं में सन्निविष्ट रहता है। धर्म,[2] ज्ञान[3], वैराग्य[4] तथा ऐश्वर्य[5]—सात्त्विक धर्म हैं तथा अधर्म, अज्ञान अवैराग्य तथा अनैश्वर्य—तामस धर्म हैं। प्रकाश एवं अन्धकार की भांति ये धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य,-अनैश्वर्य परस्पर विरोधी हैं। यह सिद्धान्त है कि परस्पर विरोधी पदार्थों का समानाधिकरण्य[6] नहीं

---

१. एकसिद्धान्तमतमाश्रित्य कथाप्रवृत्तौ तद्विरुद्धसिद्धान्तमतमालम्ब्योत्तरदानम् अथवा कथायां स्वीकृतसिद्धान्तप्रच्यवः।

२. यद्यपि धर्मः आधेयपदार्थः—यथा द्रव्यं गुणवदित्यादौ गुणो धर्मः तथापि अत्र अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिरूपप्रयोजनमुद्दिश्य विधीयमानव्यापारविशेषः धर्मः।

३. सांख्यवेदान्तमते ज्ञानं वृत्तिविशेषः, व्यापारविशेषो वा, स च बुद्धिधर्मः। न्यायमते ज्ञानं बुद्धेरपरपर्यायः स चात्मनः विशेषगुणः। बौद्धास्तु बाह्यार्थाभावेन बुद्धेरेव तत्तदर्थाकारतयावभासो ज्ञानम् इत्यङ्गीचक्रुः।

४. दोषदर्शनाद्विषयत्यागेच्छा (प्रशस्त २ पृ. ३३), भोगानभिषङ्गः (न्या. वा. १ पृ. २७), योगशास्त्रज्ञास्तु दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् (यो. सू. १।१५)।

५. ईश्वरस्य भावः ऐश्वर्यम्। विभूतिः तत्पर्यायः।
'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षणां भग इतीङ्गना॥ (पुराणवचनम्)।

६. तदधिकरणवृत्तित्वं सामानाधिकरण्यम्। इदं सामानाधिकरण्यं द्विविधं दैशिकं कालिकं चेति। वह्निधूमयोः दैशिकं सामानाधिकरण्यम्। कालिकं सामानाधिकरण्यं यथा एककालावच्छेदेन वर्तमानयोः विभिन्नदेशाधिकरणयोरपि घटपटयोः सामानाधिकरण्यम्।

होता है। अतः यहां धर्माधर्म आदि सभी धर्मों का अधिष्ठाता एक मात्र बुद्धि अवश्य है, लेकिन कालभेद से। कहने का तात्पर्य यह है कि दो समान शक्तिसम्पन्न व्यक्तियों में ही विरोध देखा जाता है, असमान शक्ति वालों में नहीं। प्रस्तुत स्थल में दो विरोधी सात्त्विक एवं तामस धर्म एक ही काल में आविर्भाव को प्राप्त होते हैं, ऐसी बात नहीं है। एक का अभिभव होने पर ही दूसरे का प्रादुर्भाव होता है। अतः उक्त प्रकार से धर्माधर्म आदि विरोधी धर्मों के समानाधिकरण्य की व्यवस्था कर लेनी चाहिये।

सात्त्विकरूपः—आचार्य गौडपाद ने 'धर्म' के अन्तर्गत दया, दान, यम नियमादि को रखा है। 'सांख्य' के समानतन्त्र पातञ्जलयोगदर्शन में यमनियमादि अष्टाङ्गयोग[1] के अन्तर्गत हैं। यम तथा नियम पांच-पांच हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह—यम है।[2] शौच, सन्तोष, तपः स्वाध्याय तथा ईश्वरप्राणिधान—नियम हैं।[3]

'ज्ञान' को प्रकाश, अवगम तथा भान कहा जाता है। ज्ञान दो प्रकार का होता है—बाह्यविषयक ज्ञान तथा आभ्यन्तरविषयक ज्ञान। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष—इन छह अङ्गों सहित वेद, पुराण तथा न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र आदि दर्शनसम्बन्धी ज्ञान; बाह्यविषयक ज्ञान के अन्तर्गत आता है। प्रकृतिपुरुषसम्बन्धी अपरोक्षज्ञान 'आभ्यन्तरज्ञान' माना गया है। इसमें प्रकृति–पुरुष के स्वरूप की पृथक्-पृथक् रूप से यथार्थ अवगति होना अपेक्षित रहता है। जैसे 'प्रकृति' सत्त्व-रजस्–तमस् की साम्यावस्था है और 'पुरुष' सिद्ध, निर्गुण, व्यापक तथा चेतन है इत्यादि। 'बाह्यज्ञान' लोकव्यवहार की व्यवस्था के लिये है तथा 'आभ्यन्तरज्ञान' मोक्षप्राप्ति के लिये।

'वैराग्य' पद का अर्थ तृष्णाभाव है। सरल शब्दों में विषयों से विमुख होना 'वैराग्य' है। विषय दो प्रकार का है—बाह्यविषय तथा आभ्यन्तरविषय। विषयभेद से वैराग्य भी दो प्रकार का है—बाह्यविषयकवैराग्य तथा आभ्यन्तर-विषयकवैराग्य। सांसारिक विषयों में अर्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग तथा हिंसादि दोषों का अवलोकन कर उनसे पराङ्मुख होने की बौद्धिक चेष्टा बाह्य–वैराग्य है।

---

१. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि (यो. सू. २।२९)।
२. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः (यो. सू. २।३०)।
३. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः (यो. सू. २।३२)।

प्रधान को स्वप्न, इन्द्रजालवत् जानकर मुमुक्षुओं में प्रकृति के प्रति जो वैराग्य बुद्धि जागृत होती है, उसे 'आभ्यन्तर-वैराग्य' कहते हैं।

बुद्धि का चतुर्थ धर्म 'ऐश्वर्य' है। 'ईश्वरस्य भावः ऐश्वर्यम्।' प्रभुता अर्थात् सामर्थ्यविशेष का नाम 'ऐश्वर्य' है। ऐश्वर्य आठ प्रकार का है—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व तथा यत्रकामावसायित्व। ये विशिष्ट शक्तियां योगियों में ही दृष्टिगत होती हैं। अणिमा का अर्थ है—'अणुभाव'। अणिमा सिद्धि के हस्तामलक होने पर अपने शरीर को परमाणु के सदृश सूक्ष्मतम बनाने की सामर्थ्य उपलब्ध होती है। जिससे अत्यन्त सूक्ष्म होकर व्यक्ति (लोगों के दृष्टिपथ में न आकर) जगत् में विचरण कर पाता है। 'महिमा' शक्ति से महान् (महत्परिमाण वाला) होकर सञ्चरण किया जाता है। 'लघिमा' शक्ति के द्वारा कमलनाल (विसतन्तु) तथा रुई से भी हलका होकर पुष्पीय परागों के अग्रभाग पर बैठा जाता है। 'प्राप्ति' संज्ञक सामर्थ्यविशेष से किसी भी देश में स्थित पदार्थ का संकल्प करते ही उसे तत्क्षण प्राप्त किया जाता है। 'प्राकाम्य' का अर्थ-- 'इच्छा का अभिघात न हो पाना' है। 'प्राकाम्यशक्ति'[1] से इच्छा फलानुसारिणी हो जाती है। 'ईशित्व' शक्तिविशेष से त्रैलोक्य का आधिपतित्व (ईशित्व) प्राप्त किया जाता है। 'वशित्व' से त्रिलोकवासी वशङ्गत किये जाते हैं।[2] 'यत्रकामावसायित्व' का अर्थ—'ब्रह्मादि से लेकर स्थावरपर्यन्त पदार्थों में जहां-कहीं भी कामनानुसार गतिलाभ होना' है। उक्त आठ प्रकार का ऐश्वर्य बुद्धि का है।

तामसरूपः—उपरि वर्णित चार सात्त्विकीय धर्मों से भिन्न चार तामसीय धर्म भी अवसर पाकर अर्थात् प्रबल होकर स्वाधीनस्थ बुद्धि का सञ्चालन करते हैं। जिनसे परास्त हुई बुद्धि तदनुसारिणी हो जाती है। धर्म, ज्ञान आदि धर्मों के समय बुद्धि में जिस प्रकार की वृत्तियां स्फुरित होती हैं; अधर्म, अज्ञान आदि काल में उससे भिन्न बुद्धि का वृत्ति व्यापार होता है।

प्रकृति से आविर्भूत बुद्धि का यही स्वरूप परिचय है ॥ २३ ॥

---

१. व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु—(कु. सं. २।११)।

२. शास्त्रं सुचिन्तितमपि प्रतिचिन्तनीय-
माराधितोऽपि नृपतिः परिशङ्कनीयः।
अङ्के स्थितापि युवतिः परिरक्षणीया
शास्त्रे नृपे च युवतौ च कुतो वशित्वम् ॥ (षड्ले १)।

[अहंकार का स्वरूप]

अभिमानोऽहङ्कारः तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥ २४ ॥

अन्वयः—अभिमानः अहङ्कारः, तस्मात् द्विविधः एव सर्गः प्रवर्तते [प्रथमः] एकादशकश्च गणः [द्वितीयः] तन्मात्रपञ्चकश्च ॥ २४ ॥

कारिकार्थः—अहङ्कार अभिमानात्मक व्यापारवान् है। उससे दो ही प्रकार का सर्ग प्रकट (उत्पन्न) होता है। पहला एकादश-इन्द्रियात्मक सर्ग है, दूसरा पञ्चतन्मात्रक सर्ग है ॥ २४ ॥

भाष्यम्—एवं बुद्धिलक्षणमुक्तम्। अहङ्कारलक्षणमुच्यते-एकादशकश्चगणः= एकादशेन्द्रियाणि, तथा तन्मात्रो गणः पञ्चकः=पञ्चलक्षणोपेतः। शब्दतन्मात्र-स्पर्शतन्मात्र-रूपतन्मात्र-रसतन्मात्र-गन्धतन्मात्रलक्षणोपेतः ॥ २४ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थ—प्रस्तुत भाष्य, कारिका का अक्षरार्थ मात्र होने से सुस्पष्ट है। इतना विशेष ज्ञातव्य है कि किसी कार्य को करने में अपने को अधिकृत पाना अर्थात् 'मैं समर्थ हूं' या 'मैं हूं' इस प्रकार की अभिमानात्मक वृत्ति से 'अहंकार' पहचाना जाता है। अतः यही अहंकार का लक्षण है ॥ २४ ॥

[अहंकार की द्विविध-सृष्टि]

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥

अन्वयः—वैकृतात् अहङ्कारात् सात्त्विकः एकादशकः प्रवर्तते, भूतादेः तन्मात्रः प्रवर्तते, सः तामसो [भवति], तैजसात् उभयं प्रवर्तते ॥ २५ ॥

कारिकार्थः—'वैकृत' अहंकार [सत्त्वगुणप्रधान अहंकार की पारिभाषिक संज्ञा 'वैकृत'] से सत्वबहुल ग्यारह इन्द्रियों का समूह अभिव्यक्त होता है। 'भूतादि' अहंकार [तमोगुणप्रधान अहंकार की पारिभाषिक संज्ञा 'भूतादि'] से पञ्चतन्मात्राओं का समूह प्रकट (उत्पन्न) होता है, जो तमोबहुल है। 'तैजस' अहंकार [रजोगुण विशिष्ट अहंकार की पारिभाषिक संज्ञा 'तैजस'] से उपरि वर्णित दोनों गुणों की अभिव्यक्ति [उत्पत्ति] होती है ॥ २५ ॥

भाष्यम्—किंलक्षणात्सर्ग इत्येतदाह—सत्त्वेनाभिभूते यदा रजस्तमसी अहङ्कारे भवतस्तदा सोऽहङ्कारः—सात्त्विकः। तस्य च पूर्वाचार्यैः संज्ञा कृता, वैकृत

इति। तस्माद्वैकृतादहङ्कारादेकादशक इन्द्रियगण उत्पद्यते। यस्मात् सात्त्विकानि विशुद्धानीन्द्रियाणि स्वविषयसमर्थानि, तस्मादुच्यते—सात्त्विक एकादशक इति। किञ्चाऽन्यत्? भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः। तमसाभिभूते सत्त्वरजसी अहङ्कारे यदा भवतः, तदा सोऽहङ्कारस्तामस उच्यते, तस्य पूर्वाचार्यकृता संज्ञा 'भूतादि' तस्मात् भूतादेरहङ्कारात् तन्मात्रः पञ्चको गण उत्पद्यते। भूतानामादि-भूतस्तमोबहुलः, तेनोक्तः स तामसः। तस्माद् भूतादेः पञ्चतन्मात्रको गणः। किञ्च—तैजसादुभयम्। यदा रजसाभिभूते सत्त्वतमसी अहङ्कारे भवतस्तदा तस्मात् सोऽहङ्कारस्तैजस इति संज्ञां लभते। तस्मात्तैजसादुभयमुत्पद्यते उभय-मिति। एकादशको गणस्तन्मात्रः पञ्चकः। योऽयं सात्त्विकोऽहङ्कारो, वैकृतिको = विकृतो भूत्वा, एकादशेन्द्रियाण्युत्पादयति, स तैजसमहङ्कारं सहायं गृह्णाति। सात्त्विको निष्क्रियः, स तैजसयुक्त इन्द्रियोत्पत्तौ समर्थः। तथा तामसोऽहङ्कारो भूतादिसंज्ञितो निष्क्रियत्वात् तैजसेनाहङ्कारेण क्रियावता युक्तस्तन्मात्राण्युत्पाद-यति। तेनोक्तं—तैजसादुभयमिति। एवं तैजसेनाऽहङ्कारेणेन्द्रियाण्येकादश, पञ्च तन्मात्राणि कृतानि भवन्ति॥ २५॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—अन्य तत्त्वों की अपेक्षा एकमात्र अहंकार में यह विलक्षणता दिखलाई पड़ती है कि उसके अंशत्रय (गुणत्रय) समान अनुपात में मिलकर सामूहिक रूप से (युगपत्) सृष्टि-व्यापार में संलग्न नहीं होते हैं, अपितु अहंकारात्मक सत्त्वगुण एवं तमोगुण प्रधानीभूत होकर पृथक्-पृथक् अर्थात् स्वतन्त्र रूप से कार्योत्पत्ति करते हैं। किसी तत्त्व को स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न न कर सकने के कारण अकिञ्चित्कर रजोगुण अन्य दो गुणों को उनके कार्य-व्यापार में प्रवर्त्तन सामर्थ्य प्रदान करता हुआ ही अपनेको कृतकृत्य समझता है। पूर्वाचार्यों ने त्रिगुणात्मक अहंकार के सत्त्वगुण की प्रचुर अवस्था में—तमस् की अभिभूत अवस्था में—अहंकार को 'वैकृत' संज्ञा से अभिहित किया है[1] तथा तमोगुण की विपुल अवस्था में उसे 'भूतादि' नाम से विशिष्ट किया है। रजोगुणविशिष्ट अहंकार का पारिभाषिक नाम 'तैजस' है। एक शब्द में सात्त्विक-अहंकार वैकृत, तामस-अहंकार 'भूतादि' तथा राजस-अहंकार 'तैजस' है। सांख्यशास्त्र के अनुसार अहंकार के उक्त नामों की सूचना; एकमात्र इसी कारिका से, मिलती है।

'वैकृत-अहंकार' का कार्य एकादश-इन्द्रियों की सृष्टि करना है तथा 'भूतादि

---

१. तस्य सात्त्विकस्य वैकृतिक इति पूर्वाचार्यैः संज्ञा कृता (मा० वृ० पृ० ४२)।

अहंकार' का कार्य पञ्चतन्मात्राओं का सृजन करना है। इस प्रकार अहंकार की उभयविध सृष्टि में इन्द्रियां 'सात्त्विक' तथा तन्मात्राएं 'तामस' सिद्ध होती हैं।

कारिका के 'तैजसादुभयम्' अंश को पढ़कर सन्देह होता है कि 'वैकृत' तथा 'भूतादि' अहंकार से उत्पन्न तत्त्व क्या तैजस अहंकार से पुनः सृष्ट होते हैं? उत्तर नकारात्मक है। सात्त्विक अहंकार निष्क्रिय होता है। वह राजस अहंकार से स्पन्दता प्राप्त कर इन्द्रियों को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। तामस अहंकार की भी यही स्थिति है। जड़ता (निष्क्रियता) उसका स्वभाव है। क्रियाशील राजस अहंकार से सहायता प्राप्त किये विना वह तन्मात्र की उत्पत्ति करने में सक्रिय नहीं हो पाता है। इस पद्धति से राजस अहंकार इन्द्रिय एवं भूत दोनों का परम्परया कारण है। इसी अभिप्राय से कारिका में 'तैजसादुभयम्' कहा है। अतः सृष्टि-संबन्धी किसी प्रकार का दोष उपस्थित नहीं होता है ॥ २५ ॥

[इन्द्रियसर्ग]

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥

अन्वयः—चक्षु-श्रोत्र-घ्राण-रसना-त्वगाख्यानि बुद्धीन्द्रियाणि आहुः । वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि आहुः ॥ २६ ॥

कारिकार्थः—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा त्वक्—ये ज्ञानेन्द्रिय कही जाती हैं। वाक्, पाणि (हाथ) पाद (पैर), पायु तथा उपस्थ—ये कर्मेन्द्रिय कही जाती हैं ॥ २६ ॥

भाष्यम्—'सात्त्विक एकादशक' इत्युक्तो यो वैकृतात् सात्त्विकादहङ्कारादुत्पद्यते, तस्य का संज्ञेत्याह—चक्षुरादीनि स्पर्शनपर्यन्तानि बुद्धीन्द्रियाण्युच्यन्ते । स्पृश्यतेऽनेनेति स्पर्शनं = त्वगिन्द्रियं, तद्वाची सिद्धः स्पर्शनशब्दोऽस्ति, तेनेदं पठ्यते—स्पर्शनकानीति । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् पञ्च विषयान् बुध्यन्ते अवगच्छन्तीति—पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः । कर्म कुर्वन्तीति—कर्मेन्द्रियाणि । तत्र वाग्वदति, हस्तौ नाना व्यापारं कुरुतः, पादौ गमनाऽऽगमनं, पायुरुत्सर्गं करोति, उपस्थ आनन्दं—प्रजोत्पत्त्या ॥ २६ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—गत कारिका में अहंकार की द्विविध-सृष्टि

का संकेत किया गया। सम्प्रति, संकेतित सर्गों में से प्रथम 'इन्द्रिय-सर्ग'[1] पर विचार प्रस्तुत हो रहा है। इस अवसर पर सर्वप्रथम यही जिज्ञासा होती है कि इन्द्रियां कौन-कौन सी हैं? ग्यारहवीं इन्द्रिय के विषय में विशेष विचार अपेक्षित समझकर आचार्य ईश्वरकृष्ण पहले दस इन्द्रियों की गिनती करते हैं]

जो इन्द्रियां ज्ञान को उत्पन्न करती हैं, बुद्धीन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय) कही जाती हैं। ज्ञान किसी विषय का हुआ करता है। विषय पांच हैं—रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श। रूपविषय का ज्ञान कराने वाली चक्षुरिन्द्रिय है। शब्द-विषय का ज्ञान कराने वाली श्रोत्रेन्द्रिय है। गन्धविषय का ज्ञान कराने वाली घ्राणेन्द्रिय है। रसविषय का ज्ञान कराने वाली रसनेन्द्रिय है तथा स्पर्शविषय का ज्ञान कराने वाली त्वगिन्द्रिय है। जो इन्द्रियां ज्ञानातिरिक्त क्रियाओं को उत्पन्न करती हैं, कर्मेन्द्रिय कही जाती हैं। ऐसी कर्मप्रधान इन्द्रियां पांच हैं—वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ। जिससे बोलने की क्रिया की जाती है, उसे वागिन्द्रिय कहते हैं। जिससे आदान-प्रदान किया जाता है, उसे हस्तेन्द्रिय कहते हैं। जिससे गमन-क्रिया की जाती है, उसे पादेन्द्रिय कहते हैं। जिससे मलत्याग किया जाता है, उसे पायु-इन्द्रिय कहते हैं। जिससे सृजन-क्रिया (सन्तानोत्पत्ति) की जाती है, उसे उपस्थेन्द्रिय कहते हैं ॥ २६ ॥

[मनस्-इन्द्रिय]

उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात् ।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥

अन्वयः—अत्र मनः सङ्कल्पकम्, उभयात्मकम्, इन्द्रियं च साधर्म्यात्, नानात्वं गुणपरिणामविशेषात् बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥

कारिकार्थ—इन्द्रियों में मन संकल्पात्मक व्यापार वाला है। वह ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय उभय रूप है। अन्य दस इन्द्रियों की भांति सात्त्विक अहंकार का कार्य होने से (कारणत्वेन समानता होने से) वह भी इन्द्रियवर्गान्तःपाती तत्त्व अर्थात् इन्द्रिय है। गुणों के परिणामविशेष अर्थात् भिन्न-भिन्न अदृष्टविशेष से—घट, पट आदि बाह्य पदार्थों की भांति—इन्द्रियों में वैचित्र्य (नानात्व = अनेकत्व) दिखाई पड़ता है ॥ २७ ॥

भाष्यम्—एवं बुद्धीन्द्रिय-कर्मेन्द्रियभेदेन दशेन्द्रियाणि व्याख्यातानि। मन एकादशकं किमात्मकं, किंस्वरूपं चेति? । तदुच्यते—अत्र = इन्द्रियवर्गे मन

१. ज्ञानकर्मसाधनमिन्द्रियम्।

उभयात्मकम् । बुद्धीन्द्रियेषु बुद्धीन्द्रियवत्, कर्मेन्द्रियेषु कर्मेन्द्रियवत् । कस्माद् ? । बुद्धीन्द्रियाणां प्रवृत्तिं कल्पयति, कर्मेन्द्रियाणां च, तस्मादुभयात्मकं मनः । सङ्कल्पयतीति सङ्कल्पकम् । किञ्चान्यत् इन्द्रियं च, साधर्म्यात् = समानधर्मभावात्, सात्त्विकाहङ्काराद् बुद्धीन्द्रियाणि, कर्मेन्द्रियाणि मनसा सहोत्पद्यमानानि मनसः साधर्म्यं प्रति. तस्मात् साधर्म्यान्मनोऽपीन्द्रियम् । एवमेतान्येकादशेन्द्रियाणि सात्त्विकाद्वैकृतादहङ्कारादुत्पन्नानि । तत्र मनसः का वृत्तिरिति सङ्कल्पो—वृत्तिः । बुद्धीन्द्रियाणां—शब्दादयो वृत्तयः, कर्मेन्द्रियाणां—वचनादयः ।

अथैतानीन्द्रियाणि भिन्नानि = भिन्नार्थग्राहकाणि—किमीश्वरेण, उत स्वभावेन कृतानि ? । यतः प्रधानबुद्ध्यहङ्कारा अचेतनाः पुरुषोऽप्यकर्तेति । अत्राह इह साङ्ख्यानां स्वभावो नाम कश्चित्कारणमस्ति । अत्रोच्यते—गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं, बाह्यभेदाश्च । इमान्येकादशेन्द्रियाणि । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चानां, वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानां, सङ्कल्पश्च—मनसः । एवमेते भिन्नानामेवेन्द्रियाणामर्थाः गुणपरिणाम-विशेषात् । गुणानां परिणामो गुणपरिणामस्तस्य विशेषादिन्द्रियाणां नानात्वं, बाह्यार्थभेदाश्च । अथैतन्नानात्वं नेश्वरेण, 'नाऽहंकारेण, न बुद्ध्या, न प्रधानेन, न पुरुषेण । (किन्तु) स्वभावात् कृतगुणपरिणामेनेति । गुणानामचेतनत्वान्न प्रवर्त्तते ? । प्रवर्तत एव । कथम् ? । वक्ष्यतीहैव—'वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य । पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ।' एवमचेतना गुणा एकादशेन्द्रियभावेन प्रवर्तन्ते, विशेषोऽपि तत्कृत एव, येनोच्चैः प्रदेशे चक्षुरवलोकनाय स्थितं, तथा घ्राणं, तथा श्रोत्रं, तथा जिह्वा स्वदेशे स्वार्थग्रहणाय एवं तदर्था अपि । यत उक्तं शास्त्रान्तरे—'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' गुणानां या वृत्तिः सा गुणविषया एवेति बाह्यार्था—विज्ञेया गुणकृता एवेत्यर्थः प्रधानं यस्य कारणमिति ॥ २७ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[गत कारिका में दस इन्द्रियों का नाम-संकीर्तन किया गया । सम्प्रति, क्रमप्राप्त ग्यारहवीं इन्द्रिय 'मन' का स्वरूप बतलाया जा रहा है]

मन की उभयात्मकताः—इन्द्रियसमूह में मन 'उभयात्मक' है । वह ज्ञानेन्द्रियों में ज्ञानेन्द्रिय की तरह तथा कर्मेन्द्रियों में कर्मेन्द्रिय की तरह है । मन की यह उभयात्मकता प्रत्येक इन्द्रिय को उसके ज्ञानरूप अथवा क्रियारूप व्यापार में सहायता पहुंचाने के कारण है । मन से सहायता प्राप्त किये बिना कोई भी इन्द्रिय अपने कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर पाती है । ऐसी स्थिति में इन्द्रियार्थ-

सन्निकर्ष (इन्द्रिय के समीप विषय) रहने पर भी विषय का ज्ञान नहीं हो पाता है। मनःसंयुक्त इन्द्रिय ही विषय को ग्रहण कर पाती है। इस प्रकार इन्द्रियों का नायक मन 'उभयात्मक' सिद्ध होता है।

मन का लक्षणः—मन, अपने कुटुम्ब (इन्द्रियवर्ग) का सहायक मात्र नहीं है, अपितु उसका भी अपना लक्ष्य है, अपना व्यापार है। जिस प्रकार श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों का शब्दादि व्यापार है तथा वागादि कर्मेन्द्रियों का वचनादि व्यापार है उसी प्रकार मन 'संकल्पात्मक' व्यापार वाला है। 'यह ऐसा है' और 'यह ऐसा नहीं है' इस प्रकार का संकल्प-विकल्प करना मन का काम है। ऊपर प्रयुक्त 'व्यापार' शब्द का अर्थ 'वृत्ति' है। वृत्ति परिणामात्मिका है, यह कई बार बताया जा चुका है। 'संकल्पात्मक' व्यापार से मनस् तत्त्व का परिज्ञान होता है, इसलिये 'सङ्कल्प' को मन का लक्षण (ज्ञापक चिह्न) कहा गया है। एक शब्द में जो जिसकी वृत्ति है, वही उसका 'लक्षण' समझा जाता है।

मन के इन्द्रियत्व की सिद्धिः—मन का उपर्युक्त स्वरूप बतलाने के पश्चात् कारिका में 'इन्द्रियं च साधर्म्यात्' अंश आया है। इसमें मन का 'इन्द्रियत्व'[1] सिद्ध करने के लिये 'साधर्म्यात्' हेतु उपन्यस्त हुआ है। यहां एक शङ्का स्वभावतः उत्पन्न होती है कि मन के 'इन्द्रिय' होने में ऐसा कौन सा सन्देह उपस्थित हो गया ? जिसके लिये पूर्व कथित बात (एकादशकः गणश्च) को पुनः सिद्ध किया जा रहा है ? इसमें यह सन्देह छिपा हुआ है कि इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के प्रति सहायक होने से यदि मन को 'इन्द्रिय' कहा गया है, तो आलोक आदि को भी 'इन्द्रिय' कहना पड़ेगा। क्योंकि ज्ञानोत्पत्ति में उसकी भी सहायता अपेक्षित रहती है ? इसी शङ्का के समाधानार्थ कारिका में 'साधर्म्यात्' हेतु आया है। दूसरी शङ्का यह है कि चक्षु इत्यादि अन्य इन्द्रियों की तरह 'असाधारण व्यापारवान्' होने से यदि मन इन्द्रिय है, तो असाधारण व्यापार वाले बुद्धि तथा अहंकार भी 'इन्द्रिय' कोटि में आने लगेंगे ? इस शङ्का के समाधानार्थ कारिका में 'साधर्म्यात्' हेतु आया है। उक्त दोनों शङ्काओं का उत्तर एक ही है। वह यह है कि मन का 'इन्द्रियत्व' ऊपर कहे गए प्रकार के अनुसार नहीं है, अपितु अन्य इन्द्रियों की भांति सात्त्विक अहंकार का कार्य होने

---

१. मनो नेन्द्रियम् इति मायावादिनो वेदान्तिनो वदन्ति (वे० ३।२।२-३)।

से अर्थात् सबका एक कारण होने से मन को 'इन्द्रियवर्ग' में रखा गया है। इस प्रकार कारिका का 'इन्द्रियं च साधर्म्यात्' अंश सार्थक है।

एक कारण (अहंकार) से अनेक कार्य (इन्द्रिय) कैसे ? :— यहां एक शङ्का उत्पन्न होती है कि अकेला सात्त्विक (वैकृत) अहंकार अनेक प्रकार की इन्द्रियों को कैसे उत्पन्न कर सकता है ? क्योंकि कार्यभेद में कारणभेद नियामक होता है। अतः भिन्न-भिन्न विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों में यह वैचित्र्य क्या ईश्वर द्वारा किया जाता है अथवा स्वभाववाद के अनुसार वे स्वतः अनेकरूपता को प्राप्त करती हैं ? उक्त दो विकल्पों में से किसी एक विकल्प को स्वीकार करना अपरिहार्य है। क्योंकि जड़ीय प्रधान, बुद्धि एवं अहंकार में अथवा चेतन किन्तु निष्क्रिय (अकर्ता) पुरुष में ऐसा सामर्थ्य कहां ? उक्त शङ्का के परिहारार्थ ही कारिका में 'गुणपरिणाम' अंश का उल्लेख हुआ है। अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण का जो धर्माधर्मरूप अदृष्टपरिणाम विशेष (वैचित्र्य) है उससे इन्द्रियरूप कार्य में अनेकता आती है, अन्य किसी कारण से नहीं। जैसे पृथ्वी के एक रहने पर भी उससे उत्पन्न होने वाले घट, पटादि बाह्य पदार्थ अनेक दिखलाई पड़ते हैं। उपर्युक्त विषय को स्पष्ट करने के लिये आचार्य गौडपाद पूर्वपक्षी की ओर से शङ्का करते हैं कि गुणों में तो स्वतः प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, क्योंकि वे अचेतन हैं। चेतन में ही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। अतः इन्द्रियों का वैचित्र्यविषयक प्रश्न (जिज्ञासा) ज्यों का त्यों बना रहा। अभी सिद्धान्त रूप से इतना ही समझ लिया जाय कि गुणः प्रवृत्तिशील हैं अतः उनमें स्वतः प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति कैसे होती है ? इसे सतावनवीं कारिका में दृष्टान्त के सहित स्पष्ट किया जायगा। इस प्रकार गुणों के द्वारा ही इन्द्रियादि तत्त्वों में विशेष (वैशिष्ट्य) का आधान किया जाता है ॥ २७ ॥

[इन्द्रियों की वृत्ति]

रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥ २८ ॥

अन्वयः—पञ्चानां [चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियाणां] रूपादिषु [यत्] आलोचनमात्रं [तत्] वृत्तिः इष्यते। पञ्चानां च वचन-आदान-विहरण-उत्सर्ग-आनन्दाः [वृत्तयः इष्यन्ते] ॥ २८ ॥

कारिकार्थः—चक्षुरादि पांच ज्ञानेन्द्रियों की रूपादि पांच विषयों में जो

आलोचनमात्रता[1] है, वही ज्ञानेन्द्रियों का 'वृत्ति' कही जाती है और वागादि पांच कर्मेन्द्रियों की वचन (बोलना), आदान (लेना). विहरण (चलना), उत्सर्ग (मलत्याग) तथा आनन्द (उपभोग) संज्ञक वृत्तियां कही जाती हैं ॥ २८ ॥

भाष्यम्—अथेन्द्रियस्य कस्य का वृत्तिरिति ?। उच्यते। 'मात्र' शब्दो विशेषार्थोऽविशेषव्यावृत्त्यर्थो, यथा—'भिक्षापात्रं लभ्यते' नान्यो विशेष इति। तथा चक्षुः रूपमात्रे, न रसादिषु। एवं शेषाण्यपि। तद्यथा—चक्षुषो—रूपं, जिह्वाया—रसः, घ्राणस्य—गन्धः, श्रोत्रस्य—शब्दः, त्वचः—स्पर्शः। एवमेषां बुद्धीन्द्रियाणां वृत्तिः कथिता। कर्मेन्द्रियाणां वृत्तिः कथ्यते—वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्। कर्मेन्द्रियाणामित्यर्थः। वाचो वचनं हस्तयोरादानं, पादयोर्विहरणं, पायोर्भुक्तस्याऽऽहारस्य, परिणतमलोत्सर्गः उपस्थस्य आनन्दः = सुतोत्पत्तिविषया वृत्तिरिति सम्बन्धः॥ २८ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थ:—[मन की वृत्ति बतलाने के पश्चात् क्रमप्राप्त अन्य इन्द्रियों की वृत्तियां बताई जा रही हैं]

कारिका में प्रयुक्त 'मात्र' पद के अर्थ को स्पष्ट करते हुए आचार्य गौडपाद लिखते हैं कि यहां 'मात्र' शब्द का अर्थ 'विशेष' है, इससे 'अविशेष' (सामान्य) की व्यावृत्ति होती है। चक्षुरादि इन्द्रियां रूपादि एक-एक विशिष्ट (विशेष) विषय को ही ग्रहण करती हैं, रूप-रस-गन्धादि सभी विषयों को समान रूप से नहीं। जैसे 'भिक्षामात्रं लभते' का अर्थ है कि 'भिक्षा मात्र ही मिलती है और कुछ नहीं'। वैसे ही यहां 'चक्षुरिन्द्रिय रूपमात्र को ग्रहण करती है और किसी विषय को नहीं' यह अर्थ है। इस प्रकार आचार्य गौडपाद के अनुसार 'मात्र' शब्द सामान्यविषय का व्यावर्तक है। आचार्य वाचस्पति मिश्र 'मात्र' पद को विशेषज्ञान (सविकल्पकज्ञान) का व्यावर्तक मानते हैं। अर्थात् इन्द्रियों को विषय का सामान्यविशेष से रहित केवल आलोचनात्मक (निर्विकल्पक) ज्ञान होता है।[2] इस प्रकार मिश्र जी ने 'आलोचन' पद के साथ 'मात्र'

---

१. सांख्यास्तु सामान्यविशेषशून्यतयेन्द्रियजन्यो
निर्विकल्पकस्थानीयोऽन्तःकरणवृत्ति विशेष इत्याहुः।
सम्मुग्धं वस्तुमात्रं तु प्राग्गृह्णन्त्यविकल्पितम्।
तद् सामान्यविशेषाभ्यां कल्पयन्ति मनीषिणः॥
(सां० त० कौ० पृ० १९०)।

२. बुद्धीन्द्रियाणां सम्मुग्धवस्तुदर्शनमालोचनमुक्तम्—(सा० त० कौ० पृ० १९४)।

पद का अन्वय किया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मिश्र जी के मत में प्रत्येक इन्द्रिय का एक-एक विषय निर्णीत नहीं। सांख्यकारिका के व्याख्याकार नारायण-तीर्थ के अनुसार कर्मेन्द्रियों के विषयों को ज्ञानेन्द्रियों के विषयों से पृथक् करने के लिये कारिका में 'मात्र' पद आया है।[1] माठरवृत्तिकार के मत में 'मात्र' पद प्रत्येक इन्द्रिय के विषय को तत्सजातीय तथा विजातीय विषयों से व्यावृत्त करता है। अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय रूपमात्र को ग्रहण करती है, उसमें श्रवणादि तथा दानादान आदि की सामर्थ्य नहीं।[2] जो भी हो हमें सिद्धान्तरूप से इतना ही कहना है कि निर्विकल्पक फल (व्यापार = वृत्ति) वाली प्रत्येक चक्षुरादि इन्द्रियाँ अपने-अपने निश्चित रूपादि विषय को ग्रहण करती हैं।

वागिन्द्रिय की वचन (बोलना), हस्त की आदान, पाद की विहरण, पायु की भुक्त अन्न आहार के परिणामरूप मल का त्याग तथा उपस्थ की सन्तानोत्पत्ति 'वृत्ति' है। इस प्रकार दसों इन्द्रियों की असाधारण वृत्तियां बतलाई गई ॥ २८ ॥

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ २९ ॥

अन्वयः—त्रयस्य स्वालक्षण्यं वृत्तिः, सा [च] एषा असामान्या भवति, [एषां] सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्याः पञ्च वायवः भवन्ति ॥ २९ ॥

कारिकार्थः—बुद्धि, अहंकार और मन तीनों का अपना-अपना लक्षण (जो क्रमशः २३, २४ तथा २७ वीं कारिका द्वारा बतलाया गया है) 'वृत्ति' अर्थात् 'व्यापार' कहा जाता है और यह उनकी 'विशेषवृत्ति' है। करणों की अन्य 'सामान्यवृत्ति' भी है। यह प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान संज्ञक पांच वायु रूप है ॥ २९ ॥

भाष्यम्—अधुना बुद्ध्यहङ्कारमनसामुच्यते,—स्वलक्षणस्वभावा-स्वालक्षण्या। 'अध्यवसायो बुद्धि' रिति लक्षणमुक्तं, सैव बुद्धिवृत्तिः। तथा 'अभिमानोऽहङ्कार' इत्यभिमानलक्षणोऽभिमानवृत्तिश्च। 'सङ्कल्पकं मन' इति लक्षणमुक्तं तेन

---

१. मात्रपदादादानादिक्रियाव्यवच्छेदः, तत्र चक्षुषो रूपे रसनाया रसे घ्राणस्य गन्धे श्रोत्रस्य शब्दे त्वचःस्पर्शे सामर्थ्यमिति विवेकः (ना० ती० कृत चं० पृ० २७)।

२. मात्रशब्दो विशेषार्थः ।………एकैकस्य प्रतीन्द्रियं स्वविषयग्रहणसामर्थ्यमेव । न हि चक्षुः, श्रवणसमर्थं दानादानसमर्थं वा—(मा० वृ० पृ० ४५)।

सङ्कल्प एव मनसो वृत्तिः। त्रयस्य = बुद्ध्यहङ्कारमनसां स्वालक्षण्या वृत्तिः— असामान्या या प्रागभिहिता। बुद्धीन्द्रियाणां च वृत्तिः साऽप्यसामान्यैवेति। इदानीं वृत्तिराख्यायते—सामान्यकरणवृत्तिः। सामान्येन करणानां वृत्तिः— प्राणाद्याः वायवः पञ्च। प्राणाऽपानसमानोदानव्याना इति पञ्च वायवः— सर्वेन्द्रियाणां सामान्या वृत्तिः। यतः प्राणो नाम वायुर्मुखनासिकान्तर्गोचरः, तस्य यत् स्पन्दनं कर्म तस्य त्रयोदशविधस्याऽपि सामान्या वृत्तिः सति प्राणे यस्मात् करणानामात्मलाभ इति। प्राणोऽपि पञ्जरशकुनिवत् सर्वस्य चलनं— करोतीति। प्राणनात्—'प्राण' इत्युच्यते। तथाऽपनयनादपानः। तत्र यत् स्पन्दनं तदपि सामान्यवृत्तिरिन्द्रियस्य। तथा समानो मध्यदेशवर्ती य आहारादीनां समं नयनात् समानो वायुः तत्र यत् स्पन्दनं तत्—सामान्यकरणवृत्तिः। तथा ऊर्ध्वारोहणादुत्कर्षादुन्नयनाद्वा उदानो नाभिदेशान्मस्तकान्तर्गोचरः तत्रोदाने यत् स्पन्दनं तत् सर्वेन्द्रियाणां सामान्या वृत्तिः। किञ्च शरीरव्याप्तिरभ्यन्तरविभागश्च येन क्रियतेऽसौ शरीरव्याप्याकाशवद्व्यानः। तत्र यत् स्पन्दनं तत् करणजालस्य— सामान्या वृत्तिरिति। एवमेते पञ्च वायवः—सामान्यकरणवृत्तिरिति व्याख्याताः। त्रयोदशविधस्यापि करणसामान्या वृत्तिरित्यर्थः ॥ २९ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थ—[पिछली पच्चीसवीं कारिका से ग्यारह इन्द्रियों पर ही विचार करते आ रहे हैं। अभी तक उनकी विशिष्ट वृत्तियों पर प्रकाश डाला गया। सम्प्रति, उनकी अन्य प्रकार की वृत्तियां बताई जा रही हैं, जो सभी इन्द्रियों की (सामूहिक रूप से) मानी जाती हैं]

'स्वालक्षण्यं वृत्तिः' का अर्थ है 'स्वलक्षणस्वभावा' अर्थात् अपना-अपना लक्षण ही जिसकी वृत्ति[1] है। स्पष्ट शब्दों में जिसका जो लक्षण है, वही उसकी वृत्ति है। 'अध्यवसायो बुद्धिः' द्वारा कथित लक्षण बुद्धि की वृत्ति है। 'अभिमानोऽहङ्कारः' द्वारा कथित लक्षण अहंकार की वृत्ति है। 'सङ्कल्पकं मनः' द्वारा कथित लक्षण मन की वृत्ति है। इस प्रकार पीछे बुद्धि, अहंकार तथा मन की असाधारण (विशेष) वृत्तियां बतलाई गई।

'सामान्यकरणवृत्तिः' का विग्रह 'सामान्येन करणानां वृत्तिः' है। वायुस्थानीय प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान संज्ञक वृत्तियां सभी करणों का साधारण व्यापार माना जाता है। ये किसी विशिष्ट इन्द्रिय से संबन्धित नहीं हैं।

---

१. संस्कृतवाङ्मये 'वृत्ति' शब्दस्यानेकार्थाः सन्ति। सांख्यास्तु महदादीनामिन्द्रियाणां च व्यापारो वृत्तिः इत्याहुः।

अतः अदृष्टवशात् किसी भी इन्द्रिय द्वारा अपना विशिष्ट व्यापार न किये जाने पर भी इन सामान्यवृत्तियों पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता है।

उपरि वर्णित पांच सामान्यवृत्तियां किन-किन करणों की हैं ? सांख्ययोग शास्त्र का यह विषय विचारणीय है। आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से इसका समाधान किया है। इस जटिल प्रश्न को यहां प्रस्तुत कर सुलझाना अप्रासङ्गिक प्रतीत हो रहा है। पाठकों की यह जिज्ञासा मेरे प्रकाशित शोधप्रबन्ध 'व्याख्याकारों की दृष्टि से पातञ्जलयोगसूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन' से शान्त हो सकती है। आचार्य गौडपाद ने स्पष्ट शब्दों में प्राणादि को तेरह करणों की वृत्ति माना है।

करणों की प्राणादि सामान्य वृत्तियां:—'प्राणनात् प्राणः' यद्यपि शरीर में प्राण नामक वायु का स्थान मुख एवं नासिका है तथापि उसका स्पन्दन रूप कर्म तेरहों करणों का सामान्य व्यापार है क्योंकि प्राण के रहने पर ही ये अस्तित्वलाभ करते हैं। पिंजडे के पक्षी की तरह प्राण सबका सञ्चालन करता है। आशय यह है कि जिस प्रकार पञ्जरस्थ शुक के चलने से पञ्जर (पिंजड़ा) चलने लगता है। उसी प्रकार प्राणवायु के चलने से तेरहों इन्द्रियां क्रियाशील हो जाती हैं। माठर आदि वृत्तियों में 'शुकपञ्जरचालनन्याय' इस प्रकार प्रस्तुत हुआ है। जिस प्रकार पञ्जरचालनरूप व्यापार एकत्रित समस्त कपोतों का साधारण व्यापार माना जाता है उसी प्रकार कलेवरधारणरूप जो जीवन नामक प्राणनादि व्यापार है, वह सम्मिलित समस्त करणों का साधारण व्यापार है[1]। 'अपनयात् अपानः' मलमूत्र या अपनयन (निःसारण) करने से इसे 'अपान' कहते हैं। पाद, पायु, उपस्थ आदि इसके स्थान हैं। इसमें जो स्पन्दन होता है, वह सभी इन्द्रियों का 'सम्मिलित व्यापार' कहलाता है। 'समम् अनुरूपं नाडीषु रसनां नयनात् समानः' जो भुक्त आहार आदि को एकरसता प्रदान कर सम्पूर्ण शरीर में पहुँचाता है उसे 'समान' कहते हैं। यह हृदय, नाभि तथा सभी सन्धियों (जोड़ों) में रहता है। इसमें होने वाली स्पन्दनक्रिया समस्त करणों की मानी जाती है। 'ऊर्ध्वं नयनात् उदानः' ऊपर की ओर आरोहण करने से अर्थात् रसादिकों को ऊपर पहुँचाता है, इसलिये उसे 'उदान' कहते हैं। यह नाभि से लेकर मस्तकप्रदेशपर्यन्त रहता है। इस उदान में जो स्पन्दन होता है, वह सब इन्द्रियों की वृत्ति कही जाती है। 'व्याप्नोतीति व्यानः' जो समस्त शरीर में व्याप्त

१. पञ्जरचालनन्यायः = यथा स्वयत्नैर्दशभिः पक्षिभिरेकक्रियोत्पादनेन पञ्जरचालनं क्रियते तथा दशभिरिन्द्रियैः प्राणरूपैकक्रियोत्पादनेन देहचालनं क्रियत इति भावः।

रहता है और आभ्यन्तर का विभाग करता है वही शरीरव्यापी व्यानवायु है। यह शरीर में उसी प्रकार व्याप्त रहता है, जिस प्रकार आकाश में वायु। एतत्वर्ती स्पन्दन भी तेरह इन्द्रियों का सम्मिलित व्यापार है। इस प्रकार करणों (इन्द्रियों) की द्वितीय सामान्यवृत्तियों का वर्णन समाप्त होता है ॥ २९ ॥

[करणों की युगपत् एवं अयुगपत् वृत्ति]

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा।
दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥

अन्वयः—दृष्टे तु तस्य चतुष्टयस्य वृत्तिः युगपत् क्रमशश्च निर्दिष्टा। तथा अदृष्टेऽपि तत्पूर्विका त्रयस्य वृत्तिः युगपत् क्रमशश्च निर्दिष्टा ॥ ३० ॥

कारिकार्थः—पुरोदृश्यमान् पदार्थ का ज्ञान होने में चार करणों (रूपादि पदार्थ के अनुसार चक्षुरादि एक-एक बाह्यकरण तथा तीन अन्तःकरण मन, अहंकार एवं बुद्धि) की वृत्ति (व्यापार) एक साथ (युगपत् = क्रमरहित) अथवा क्रम से होती है। परोक्ष पदार्थों में भी बाह्येन्द्रिय के तात्कालिक व्यापार को छोड़कर लेकिन पूर्वकालिक बाह्येन्द्रियजन्यज्ञानपूर्वक तीन अन्तःकरण-मन, अहंकार एवं बुद्धि की वृत्ति युगपत् (अक्रम) अथवा क्रम से होती है ॥ ३० ॥

भाष्यम्—युगपच्चतुष्टयस्य। बुद्ध्यहङ्कारमनसामेकैकेन्द्रियसम्बन्धे सति चतुष्टयं भवति। चतुष्टयस्य दृष्टे = प्रतिविषयाध्यवसाये युगपद्वृत्तिः। बुद्ध्यहङ्कार-मनश्चक्षूंषि—युगपदेककालं रूपं पश्यन्ति—'स्थाणुरय'मिति। बुद्ध्यहङ्कारमनो-जिह्वा-युगपद्रसं गृह्णन्ति। बुद्ध्य-हङ्कार मनो-घ्राणानि—युगपद् गन्धं गृह्णन्ति। तथा त्वक् श्रोत्रे अपि। किञ्च 'क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा'। तस्येति = चतुष्टयस्य, क्रमशश्च वृत्तिर्भवति। यथा कश्चित् पथि गच्छन् दूरादेव दृष्ट्वा 'स्थाणुरयं पुरुषो वे'ति संशये सति तत्रोपरूढं तल्लिङ्गं पश्यति, शकुनिं वा, ततस्तस्य मनसा सङ्कल्पिते संशये व्यवच्छेदभूता बुद्धिर्भवति-स्थाणुरय'मिति। अतो अहङ्कारश्च निश्चयार्थः 'स्थाणुरेवे'ति। एवं बुद्ध्यहङ्कारमनश्चक्षुषां क्रमशो वृत्तिर्दृष्टा। यथा रूपे, तथा शब्दादिष्वपि बोद्धव्या। दृष्टे = दृष्टविषये। किञ्चान्यत् ? तथाऽप्यदृष्टत्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः। अदृष्टे-अनागतेऽतीते च काले, बुद्ध्यहङ्कारमनसां रूपे चक्षुः पूर्विका त्रयस्य वृत्तिः। स्पर्शे-त्वक्पूर्विका। गन्धे-घ्राणपूर्विका। रसे—रसपूर्विका। शब्दे-श्रवणपूर्विका बुद्ध्यहङ्कारमनसामनागते = भविष्यति कालेऽतीते च तत्पूर्विका-क्रमशो वृत्तिः। वर्तमाने युगपत्, क्रमशश्चेति ॥ ३० ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[एकादश इन्द्रियों का परिचय प्राप्त हो जाने के पश्चात् यह जानने की इच्छा होती है कि 'विषय-ज्ञान' का सम्पूर्ण रूप क्या है ? लोगों की यह धारणा है कि इन्द्रियों द्वारा अपना-अपना विषय ग्रहण किया जाना ही ज्ञान का सम्पूर्ण रूप है। प्रस्तुत कारिका में लोगों की इसी धारणा को संशोधित किया गया है। विषयज्ञान में बाह्यकरण के साथ-साथ अन्तःकरणों का भी उपयोग रहता है, इसका परोक्षरूप से संकेत देते हुए आचार्य ईश्वरकृष्ण करणों की 'युगपत्' एवं 'अयुगपत्' वृत्तियों के बारे में बता रहे हैं]

दश बाह्येन्द्रियों के समुदाय में से कोई एक तथा तीन अन्तःकरण मन, अहंकार एवं बुद्धि को मिलाकर 'चतुष्टय' कहा गया है। ये चार करण; बाह्य पदार्थ के ज्ञानार्थ कभी एक साथ प्रवृत्त होते हैं और कभी क्रमशः। जैसे बुद्धि, अहंकार, मन तथा चक्षु को एक साथ एक ही समय में रूप का ज्ञान होता है इसका स्वरूप है—'यह स्थाणु है'। इसी प्रकार अन्य बाह्य इन्द्रियां तीन अन्तःकरण के साथ युगपत् अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं। विषयज्ञान में उपर्युक्त करणचतुष्टय की क्रमशः भी वृत्तियां होती हैं। करणचतुष्टय की किस प्रकार 'युगपत्' अथवा 'क्रमशः' वृत्तियां होती हैं, इसे प्रस्तुत करने से पूर्व यह स्पष्ट करना चाहती हूँ कि सर्वप्रथम चक्षुरादि किसी बाह्य-करण, तदनन्तर मन, तदनन्तर अहंकार तथा अन्त में बुद्धि की वृत्ति बनती है। इस प्रकार 'विषयज्ञान' बाह्यकरण से प्रारम्भ होकर बुद्धिवृत्ति पर्यवसायी होता है। मार्ग से जाता हुआ पथिक दूर से ही किसी पदार्थ को देखकर (चक्षु का व्यापार होते ही) 'यह स्थाणु है अथवा पुरुष है'—ऐसा सन्देह (संकल्पात्मक मनःवृत्ति) करता है। समीप पहुँचने पर ध्यान के केन्द्रीभूत उस विषय पर पक्षी आदि को बैठा देखकर उसका पुरुषविषयक सन्देह निवृत्त हो जाता है। तदनन्तर स्थाणु के विषय में 'अभिमान' (अहंकार का व्यापार) होता है। इसके पश्चात् यह स्थाणु ही है ऐसी 'निश्चयात्मक वृत्ति' (बुद्धि की वृत्ति) होती है। उपर्युक्त उदाहरण क्रमिक करणचतुष्टयवृत्ति का है। प्रायः किसी प्रकार के भय अथवा व्याकुलता की अवस्था में करणचतुष्टय की युगपत् वृत्ति हुआ करती है। जैसे घोर अन्धकार में सामने से आते चोर को देखते ही एकदम मन की 'सङ्कल्पात्मक', अहंकार की 'अभिमानात्मक' तथा बुद्धि की 'अध्यवसायात्मक' वृत्ति बनती है और वह तुरन्त वहां से 'तीन-दो-पांच' हो जाता है। तदर्थ सांख्यतत्त्वकौमुदी द्रष्टव्य है।[1]

---

१. सां० त० कौ० पृ० १९८।

चक्षुरादि वाह्यकरण उसी पदार्थ का प्रत्यक्ष कर पाते हैं, जो पदार्थ इन्द्रिय-सन्निकृष्ट होता है। असन्निकृष्ट पदार्थों के साथ चक्षुरादि का सम्बन्ध न हो पाने के कारण उनकी वृत्ति नहीं बनती है, ऐसा दार्शनिकों का सिद्धान्त है। फिर भी वे प्रत्यक्षमूलक अनुमान तथा आगम प्रमाण के आधार पर 'अनुमिति ज्ञान' तथा 'शाब्दबोध' को स्वीकार करते हैं। प्रस्तुत स्थल में आचार्य ईश्वरकृष्ण ने 'तत्पूर्विका' शब्द से प्रत्यक्षपूर्विका की ओर संकेत किया है। एतावता अदृष्ट (अतीत और अनागत) पदार्थ के विषय में बाह्यकरणवृत्तिपूर्वक अन्तःकरणत्रय की ही युगपत् अथवा क्रमशः वृत्तियां हुआ करती हैं। उसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य गौडपाद लिखते हैं कि रूप में चक्षुपूर्विका, स्पर्श में त्वक्पूर्विका, गन्ध में घ्राणपूर्विका, रस में रसनेन्द्रियपूर्विका तथा शब्द में श्रवणपूर्विका मन, अहंकार एवं बुद्धि की क्रमशः अथवा युगपत् वृत्तियां होती हैं ॥ ३० ॥

[इन्द्रियों की प्रवृत्ति का प्रेरक]

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम् ।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—[करणानि] परस्पराकूतहेतुकां स्वां स्वां वृत्तिं प्रतिपद्यन्ते, [अत्र] पुरुषार्थ एव हेतुः, केनचित् करणं न कार्यते ॥ ३१ ॥

कारिकार्थः—ऊपर कथित तेरह करण पारस्परिक अभिप्राय के कारण अपनी-अपनी वृत्ति (व्यापार) के लिये प्रवृत्त होते हैं। उनकी प्रवृत्ति का प्रेरक (प्रयोजक कारण) एक मात्र पुरुषार्थ है। ईश्वर आदि किसी अन्य कारण से अन्तः तथा वाह्यकरण क्रियाशील नहीं होते हैं ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—किञ्च-स्वां-स्वामिति वीप्सा। बुद्ध्यहङ्कारमनांसि स्वां-स्वां वृत्तिं परस्पराकूतहेतुकाम्। 'आकूतमादरसम्भ्रमः' इति। प्रतिपद्यन्ते = पुरुषार्थ-करणाय बुद्ध्यहङ्कारादयः। बुद्धिरहङ्काराकूतं ज्ञात्वा स्वविषयं प्रतिपद्यते। किमर्थ-मिति चेत् ?। पुरुषार्थ एवं हेतुः। 'पुरुषार्थः कर्त्तव्य' इत्येवमर्थं गुणानां प्रवृत्तिः। तस्मादेतानि करणानि पुरुषार्थं प्रकाशयन्ति। यद्यचेतनानीति कथं स्वयं प्रवर्तंते ?। न केनचित् कार्यते करणम्। पुरुषार्थ एवैकः कारयतीति वाक्यार्थः। न केनचित्-ईश्वरेण, पुरुषेण वा, कार्यते = प्रबोध्यते करणम् ॥ ३१ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[ऊपर 'करणवर्ग' की प्रत्येक दृष्टि से मीमांसा की गई। लेकिन यहां समस्या यह उपस्थित होती है कि अचेतन होने-

से करणों की सुनियोजित प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? प्रस्तुत कारिका में आपाततः प्रतीत इसी समस्या को सहज हल किया जा रहा है]

'स्वां स्वां' यह वीप्सा है। 'प्रतिपद्यन्ते' क्रिया के साथ 'बुद्ध्यहङ्कारमनांसि' का अध्याहार[1] कर लेना चाहिये। वस्तुतः आचार्य गौडपाद द्वारा ऊपर कहे हुए बुद्ध्यादि तीन करणसामान्य के उपलक्षण[2] मात्र हैं। 'आकूत' पद का अर्थ आदर या सम्भ्रम है। अर्थात् 'सृष्टि के समय से ही अपने-अपने कार्य की सीमा को जानकर अर्थात् संकेतित अभिप्राय के अनुसार क्रियाशील होते हैं'। निष्कृष्ट अर्थ यह हुआ कि परस्पर के अभिप्राय को जानकर बुद्ध्यादि करण अपने-अपने व्यापार में संलग्न होते हैं। इनकी प्रवृत्ति का हेतु एकमात्र पुरुषार्थ है। अर्थात् पुरुषार्थ सम्पादनार्थ (पुरुष के भोगापवर्ग को सम्पन्न करने के लिये) गुण से अभिन्न बुद्ध्यादि करणों की प्रवृत्ति होती है। इस पर यह शङ्का होती है कि अचेतन होने से करणों की स्वतः प्रवृत्ति कैसे सम्भव है ? करणों के प्रवृत्ति-निमित्तक 'पुरुषार्थ' की दृढतापूर्वक स्थापना करने के लिये आचार्य गौडपाद लिखते हैं कि पुरुषार्थ के अतिरिक्त ईश्वर या पुरुष आदि तत्त्व करणों को उद्बोधित (प्रेरित) नहीं करते हैं। जगत् में अस्तित्व धारण करते ही वे स्वतः जागरूक रहते हैं। एतावता करणों की प्रवृत्ति का प्रेरक 'पुरुषार्थ' सिद्ध होता है ॥ ३१ ॥

[करणों का विभाजन]

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।
कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥ ३२ ॥

अन्वयः—करणं त्रयोदशविधं, तत् आहरण-धारण-प्रकाशकरं, तस्य च कार्यम् आहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च दशधा भवति ॥ ३२ ॥

कारिकार्थः—करण तेरह प्रकार (बुद्धि, अहंकार, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, तथा पञ्चकर्मेन्द्रिय) का है। वे आदान (कर्मेन्द्रियों का व्यापार), धारण (अन्त-

---

१. अध्याहारो नाम अश्रुतपदानामनुसंधानम्।

२. एकपदेन तदर्थान्यपदार्थकथनम्। यथा—

'देशान्तरे मृते पत्यौ साध्वी तत्पादुकाद्वयम् ;
निधायोरसि संशुद्धा प्रविशेज्जातवेदसम् ॥
'अत्र पादुकाद्वयमित्युपलक्षणं द्रव्यान्तरमपि ;

करणत्रय का व्यापार) तथा प्रकाश (ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार) करने वाले हैं। इनका आहार्य, धार्य तथा प्रकाश्य कार्य दस-दस प्रकार का है ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—बुद्ध्यादि कतिविधं तदित्युच्यते—करणं महदादि, त्रयोदशविधं बोद्धव्यम्। पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि—चक्षुरादीनि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि—वागादीनीति—त्रयोदशविधं करणम्। तत् किं करोतीत्येतदाह—'तदाहरणधारणप्रकाशकरम्'। तत्राऽऽहरणं, धारणं च—कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति। प्रकाशं—बुद्धीन्द्रियाणि। कतिविधं कार्यं तस्येति? तदुच्यते—कार्यं च तस्य दशधा। तस्य = करणस्य, कार्यं = कर्त्तव्यमिति। दशधा = दशप्रकारम्, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यं वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाख्यमेतद्दशविधं कार्यं। बुद्धीन्द्रियैः प्रकाशितं कर्मेन्द्रियाण्याहरन्ति, धारयन्ति चेति ॥ ३२ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[पीछे प्रत्येक करण को अपना-अपना (पृथक् पृथक्) व्यापार बतलाया गया। अब सामूहिक रूप से करणों के व्यापारों एवं उनके कार्यों का विभाजन किया जा रहा है]

'साधकतमं करणम्'[1] क्रिया की सिद्धि में जो अत्यन्त सहायक होता है, उसे 'करण' कहते हैं। सांख्याचार्यों ने जगत् की क्रियाओं को तीन भागों में विभक्त किया है, वे हैं—आहरणक्रिया, धारणक्रिया तथा प्रकाशनक्रिया। उन्होंने तीन क्रियाओं के तेरह करण बतलाये हैं, वे हैं—पञ्च कर्मेन्द्रियां, पञ्च ज्ञानेन्द्रियां, बुद्धि, अहंकार तथा मन। ये क्रियाएं किस किस करण द्वारा की जाती हैं? इसके संबन्ध में सांख्याचार्यों का एक मत नहीं है। मतभेद प्रदर्शन का स्थल न होने से यहां आचार्य गौडपाद का मत ही प्रस्तुत हो रहा है। इस पर विशेष विचार भूमिका में किया जा चुका है। तदर्थ भूमिका द्रष्टव्य है।

आचार्य गौडपाद की मान्यता के अनुसार आहरण एवं धारण क्रियाएं कर्मेन्द्रियां करती हैं तथा प्रकाशनक्रिया ज्ञानेन्द्रियां। सम्प्रति, क्रिया के सकर्मक होने से उनके कार्यों (कर्मों) के बारे में बताते हैं—करण का कार्य इस प्रकार है, वह है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वचन, आदान, विहरण, आदान, विहरण, उत्सर्ग तथा आनन्द। बुद्धीन्द्रियों द्वारा 'प्रकाशित' कार्य को 'ग्रहण' तथा 'धारण' करने का कार्य कर्मेन्द्रियां करती हैं। इस प्रकार करणों के व्यापारों एवं कार्यों को अतिसंक्षेप से कहा गया ॥ ३२ ॥

---

१. पाणि० सू० १।४।४२ क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात्।

[करणों का बाह्य-आभ्यन्तर देश तथा विषयग्रहण का भिन्न-भिन्न काल]

अन्तःकरणं[1] त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—अन्तःकरणं त्रिविधं, त्रयस्य विषयाख्यं बाह्यं (बाह्यकरणं) दशधा (भवति) । बाह्यं करणं साम्प्रतकालम्, आभ्यन्तरकरणं त्रिकालं भवति ॥ ३३ ॥

कारिकार्थः—[स्थूलशरीर के भीतर स्थित] आभ्यन्तरकरण (बुद्धि, अहंकार तथा मन भेद से) तीन प्रकार का है। अन्तःकरण का व्यापारजनक बाह्यकरण (ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय भेद से) दस प्रकार का होता है। बाह्यकरण अपने सन्निकृष्ट वर्तमान विषय को ग्रहण करता है। आभ्यन्तरकरण तीनों काल के विषयों को ग्रहण करता है ॥ ३३ ॥

भाष्यम्—किञ्च—अन्तःकरणमिति—बुद्ध्यहङ्कारमनांसि । त्रिविधं—महदादिभेदात् । दशधा बाह्यं च । बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च, कर्मेन्द्रियाणि पञ्च, दशविधमेतत् करणं बाह्यम् । तत्र यस्यान्तःकरणस्य विषयाख्यं = बुद्ध्यहङ्कारमनसां भोग्यम् । साम्प्रतकालं । श्रोत्रं—वर्त्तमानमेव शब्दं शृणोति, नाऽतीतं न च भविष्यन्तम् । चक्षुरपि वर्त्तमानं रूपं पश्यति, नाऽतीतं, नाऽनागतम् । त्वग्वर्त्तमानं स्पर्शम्, जिह्वा वर्त्तमानं रसं । नासिका-वर्त्तमानं गन्धं नाऽतीताऽनागतं चेति । एवं कर्मेन्द्रियाणि । वाग्वर्त्तमानं शब्दमुच्चारयति, नाऽतीतं नाऽनागतम् । पाणी वर्त्तमानं घटमाददाते । नातीतमनागतं च । पादौ वर्त्तमानं पन्थानं विहरतो, नाऽतीतं, नाप्यनागतम् । पायूपस्थौ च वर्त्तमानावुत्सर्गानन्दौ कुरुतः, नाऽतीतौ, नाऽनागतौ । एवं बाह्यं करणं साम्प्रतकालमुक्तम् । त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् । बुद्ध्यहङ्कारमनांसि त्रिकालविषयाणि । बुद्धिर्वर्त्तमानं घटं बुध्यते, अतीतमनागतं चेति । अहङ्कारो वर्त्तमानेऽभिमानं करोत्यतीतेऽनागते च । तथा मनो वर्त्तमाने सङ्कल्पं कुरुतेऽतीतेऽनागते च । एवं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणमिति ॥ ३३ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[भोगापवर्ग का साधन होने से सांख्ययोगशास्त्र में करणों का प्रमुख स्थान है । इसलिये आचार्य ईश्वरकृष्ण मुमुक्षुओं

---

१. अन्तर्मध्यवर्त्ति करणं ज्ञानसाधनम् । अस्मिन् मते (सांख्यमते) अन्तःकरणं त्रिविधम् । वेदान्तमते अन्तःकरणं चतुर्विधम् । यथा—
'मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम् ।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया अमी' ॥—(वे० पं० पृ० ७०)

के समीप करणों का व्यापक स्वरूप उपस्थित करना चाहते हैं। कई दृष्टियों से विचार करने के पश्चात् अब वे करणों का देश एवं विषयग्रहण का काल भिन्न-भिन्न होने से उसी का दिग्दर्शन कराते हैं]

सांख्ययोगशास्त्र में बुद्धि, अहंकार एवं मन—तीन पृथक्-पृथक् तत्त्व माने जाते हैं। करणसमूह में इनका 'आभ्यन्तर स्थान' है। इन त्रिविध अन्तःकरणों को छोड़कर अवशिष्ट दसों करणों का स्थान 'बाहरी' है। अतः वे 'बाह्यकरण' के नाम से विख्यात हैं। बाह्यकरण अन्तःकरणों के भोग्यस्वरूप माने जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक बाह्यकरण स्व-स्व विषय को ग्रहण कर अन्तःकरणत्रय के अधीन कर देता है। दूसरे शब्दों में बाह्यकरण अन्तःकरण को अपना-अपना विषय प्रदान कर उन्हें व्यापारयुक्त बनाता है। इस प्रकार द्वारीभूत अन्तःकरण के ये द्वारस्थानीय हैं। कारिका में 'विषयाख्यम्' शब्द से इसी अभिप्राय की ओर इङ्गित किया गया है।

अन्तःकरण एवं बाह्यकरण में दूसरा अन्तर यह है कि बाह्यकरण के विषय-ग्रहण का क्षेत्र संकुचित है और अन्तःकरण के विषयग्रहण का क्षेत्र व्यापक है। बाह्यकरण पुरोवर्ति पदार्थ को ही ग्रहण करने में समर्थ होता है और अन्तःकरण पुरोवर्ति तथा दूरवर्ती उभय पदार्थों को ग्रहण करने की सामर्थ्य रखता है। बाह्यकरण को 'साम्प्रतकालविषयक' कहा गया है। अर्थात् श्रोत्र वर्तमान शब्द को ही सुन पाता है, अतीत और अनागत शब्द को नहीं। इसी प्रकार त्वगिन्द्रिय वर्तमान स्पर्श को, जिह्वा वर्तमान शब्द को, नासिका वर्तमान गन्ध को ही ग्रहण कर पाती है, अतीत एवं अनागतकालिक स्वस्व विषय को नहीं। ज्ञानेन्द्रियों की भांति कर्मेन्द्रियां भी साम्प्रतिक विषयक हैं। वाक् के द्वारा वर्तमान शब्द ही उच्चरित होता है। हस्त के द्वारा वर्तमान घट का ही ग्रहण होता है। पैरों द्वारा वर्तमान मार्ग में ही विहरण किया जाता है। पायु और उपस्थ के द्वारा भी वर्तमान काल से संबन्धित मलत्याग एवं आनन्द का ग्रहण किया जाता है, अतीत एवं अनागतकालिक स्वस्व विषय का नहीं। एक शब्द में बाह्यकरण एकमात्र वर्तमानकालिक पदार्थ को ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता है। अन्तःकरण का व्यापार त्रैकालिक पदार्थों से संबन्ध रखता है, उसमें काल का सीमा-बन्धन नहीं। बुद्धि को वर्तमानकालिक घट की भांति भूत एवं भविष्यत कालिक घट के विषय में भी निश्चयात्मक ज्ञान होता है। इसी प्रकार अहंकार एवं मन को भी त्रैकालिक पदार्थविषयक अभिमानात्मक एवं संकल्पात्मक ज्ञान होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अनुमान तथा शब्द की सहायता से भूत एवं भविष्यत् से

संबन्धित विषयों में और इन्द्रियों की सहायता से भूत एवं भविष्यत् से संबन्धित विषयों में अन्तःकरणत्रय की प्रवृत्ति (व्यापार = वृत्ति) होती है। इस प्रकार आभ्यन्तरकरण त्रिकालविषयक सिद्ध होते हैं। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वकौमुदी में अन्तःकरण की त्रैकालिकता को उदाहरण देकर स्पष्ट कर दिया है।[1] ॥ ३३ ॥

[बाह्यकरणों के विषय]

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि ।
वाग् भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ॥३४॥

अन्वयः—तेषां (बाह्यकरणानां) पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि विशेषाऽविशेषविषयाणि [भवन्ति], वाक् शब्दविषया भवति, शेषाणि (कर्मेन्द्रियाणि) तु पञ्चविषयाणि भवन्ति ॥ ४ ॥

कारिकार्थः—पूर्वकथित दस बाह्यकरणों में श्रोत्रादि संज्ञक पांच ज्ञानेन्द्रियां 'विशेष' (स्थूल) एवं 'अविशेष' (सूक्ष्म) दोनों प्रकार के पदार्थों को अपने ज्ञान का विषय बनाती हैं।[2] (कर्मेन्द्रियों में) वागिन्द्रिय केवल स्थूल शब्द-विषयक होती है। अवशिष्ट कर्मेन्द्रियां तो स्थूलवर्ग के शब्द स्पर्शादि पांचों विषयों को ग्रहण करती हैं ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—इदानीमिन्द्रियाणि कति सविशेषविषयं गृह्णन्ति, कानि निर्विशेष-मिति ? । तदुच्यते—बुद्धीन्द्रियाणि तेषां—सविशेषं निर्विशेषं च विषयं गृह्णन्ति। सविशेषविषयं-मानुषाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् सुखदुःखमोहविषय-युक्तान् बुद्धीन्द्रियाणि प्रकाशयन्ति। देवानां निर्विशेषान् विषयान् प्रकाशयन्ति। तथा कर्मेन्द्रियाणां मध्ये वाग्भवति शब्दविषया। देवानां, मानुषाणां च वाग्वदति, श्लोकादीनुच्चारयति, तस्माद्देवानां, मानुषाणां च वागिन्द्रियं तुल्यम्। शेषाण्यपि वाग्व्यतिरिक्तानि पाणिपादपायूपस्थसंज्ञितानि पञ्चविषयाणि। पञ्च विषयाः शब्दादयो येषां तानि पञ्चविषयाणि। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पाणौ सन्ति। पञ्चशब्दादिलक्षणायां भुवि पादो विहरति। पाय्विन्द्रियं पञ्चक्लृप्त-मुत्सर्गं करोति। तथोपस्थेन्द्रियं पञ्चलक्षणं शुक्रमानन्दयति ॥ ३४ ॥

---

१. नदीपूरभेदादभूद् वृष्टिः, अस्ति धूमादग्निरिह नगनिकुञ्जे, असत्युपघातके पिपीलिकाण्डसञ्चारणाद्भविष्यति वृष्टिरिति, तदनुरूपाश्च सङ्कल्पाभिमानाध्यवसाया भवन्ति— [सां० त० कौ० पृ० २०७]

२. तस्मिंस्तस्मिंस्तु तन्मात्रास्तेन तन्मात्रता स्मृता।
न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः ॥ (वि० पु०)

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[यद्यपि करणों का व्यापार (वृत्ति) बताते हुए पीछे व्यापार के आश्रयभूत विषयों का दिग्दर्शन हो चुका है तथापि यहां विषयों के अवान्तरभेद को लेकर विचार प्रस्तुत हो रहा है]

विषय दो प्रकार का होता है—स्थूलविषय तथा सूक्ष्मविषय आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी—इन पांच भूतों को 'स्थूलविषय' कहते हैं। शब्दादि पञ्च तन्मात्राओं को 'सूक्ष्मविषय' कहते हैं। पञ्चतन्मात्राएं पञ्चमहाभूतों का कारण हैं। कार्य की तुलना में कारण को सूक्ष्म माना जाता है। इस दृष्टि से तन्मात्राओं को 'सूक्ष्म' कहा गया है। सांख्यशास्त्र में ऊपर कथित स्थूल एवं सूक्ष्म विषय ही क्रमशः 'विशेष' एवं 'अविशेष' संज्ञा से परिभाषित हुए हैं। आचार्य गौडपाद के अनुसार जो विशेष से युक्त है उसे 'सविशेष' तथा जो विशेष से रहित है उसे 'निर्विशेष' कहते हैं। भूतों के 'विशेषत्व' एवं तन्मात्राओं के 'अविशेषत्व' को अड़तीसवीं कारिका में स्पष्ट किया जायगा।[1]

ज्ञानोत्पादक, बुद्धीन्द्रियां दोनों प्रकार के विषयों—'सविशेष' तथा 'निर्विशेष' को ग्रहण करती हैं। लेकिन इसमें एक सीमाबन्धन (अन्तर) यह है कि सर्वसाधारण की बुद्धीन्द्रियों में केवल 'सविशेष' (स्थूल) विषयों को ग्रहण करने की सामर्थ्य रहती है। योगसाधना से विशिष्टता प्राप्त योगियों एवं देवताओं की ज्ञानेन्द्रियां 'सविशेष' की भांति 'निर्विशेष' विषयों से भी सहज ही सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। अतः उन्हें दोनों प्रकार के पदार्थ स्फुरित होते हैं। अर्थात् वे स्थूलातिस्थूल से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपादिकों को जानने में समर्थ रहते हैं।

कर्मेन्द्रियों में उक्त प्रकार का भेद दृष्टिगत नहीं होता है। यहां, यह अन्तर ज्ञातव्य है कि प्राणिमात्र (सर्वसाधारण एवं योगी आदि विशेषों) की वागिन्द्रियां स्थूलशब्दविषयिणी ही होती हैं। वे सूक्ष्म शब्दों को ग्रहण नहीं कर पाती हैं, क्योंकि उसका अर्थात् स्थूल शब्द एवं सूक्ष्मशब्द (शब्दतन्मात्र) दोनों का उत्पत्तिस्थल (कारण) एक ही अहंकार है। इस प्रकार दोनों की एक ही काल में उत्पत्ति होती है। एक ही काल में उत्पत्ति होने से उनमें पौर्वापर्यघटित कार्यकारण-भावसंबन्ध नहीं रह सकता है। देवता एवं सर्वधारण की वागिन्द्रियों में समानता

---

१. सांख्यादिमतसिद्धानि तन्मात्राख्यानि सूक्ष्मभूतानि, तानि च इदमेतदेवं गुणकमिति व्यावृत्ततया नानुभूयन्ते इत्यविशेषाः सूक्ष्माश्चोच्यन्ते एतद्विपरीतं महाभूतानि स्थूलभूतानि विशेषाः कथ्यन्ते।

बतलाते हुए आचार्य गौडपाद लिखते हैं कि देवता एवं मनुष्य की वाणी बोलती है अर्थात् श्लोकादि का उच्चारण करती है, इसलिये दोनों की इन्द्रियां तुल्य हैं। वागिन्द्रिय को छोड़कर अतिरिक्त चार कर्मेन्द्रियों—हस्त, पाद, पायु तथा उपस्थ के शब्दादि पांच-पांच स्थूलविषय होते हैं। जैसे हस्त से आहार्य घटादि, पैरों से आहार्य भूतलादि, पायु से उत्स्रष्टव्य मलादि तथा उपस्थ से आनन्दयोग्य वीर्यादि स्थूलविषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्धात्मक प्रतीत होते हैं। इससे बाह्यकरणों के विषयों का अवान्तर भेद स्पष्ट हो जाता है ॥ ३४ ॥

[करणों का द्वारद्वारिभावसंबन्ध]

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥ ३५ ॥

अन्वयः—यस्मात् सान्तकरणा बुद्धिः सर्वं विषयम् अवगाहते, तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि, शेषाणि (बाह्यकरणानि) द्वाराणि[1] ॥ ३५ ॥

कारिकार्थः—चूंकि; अन्तःकरणवर्गीय मन और अहंकार के सहित बुद्धि (बाह्येन्द्रियों की सहायता से) समस्त विषयों का अवगाहन (आलोडन = निश्चयात्मक ज्ञान) करती है, इसलिये त्रिविध अन्तःकरण द्वारि = प्रधान हैं और उनके सहायक अवशिष्ट बाह्यकरण द्वार = गौण हैं ॥ ३५ ॥

भाष्यम—सान्तःकरणा बुद्धिः। अहङ्कारमनःसहितेत्यर्थः। यस्मात् सर्वं विषयमवगाहते = गृह्णाति। त्रिष्वपि कालेषु शब्दादीन् गृह्णाति तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि. द्वाराणि शेषाणि। 'करणानी'ति वाक्यशेषः ॥ ३५ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[यद्यपि करणत्वेन सभी करण एकरूप हैं तथापि सब में वैयक्तिक भेद तथा वर्गीय भेद (अन्तःकरण वर्ग तथा बाह्यकरण वर्ग के रूप से) रहता ही है। पीछे, करणों के दोनों प्रकार के भेदों के बारे में यथास्थान कहते आये हैं। प्रस्तुत कारिका में करणों के बलाबल (द्वारद्वारि) का निर्णय किया जा रहा है]

क्रिया की निष्पत्ति के मुख्य साधन को 'द्वारि' तथा मुख्य साधन को सहायता पहुंचाने वाले साधन को 'द्वार' कहते हैं। द्वारभूत साधन को गौण तथा द्वारि-भूतसाधन को 'प्रधान' कहा जाता है। न्याय आदि दर्शनों में द्वारभूतसाधन

---

१. व्यापारवदस्यार्थोऽनुसंधेयः।

'अवान्तरव्यापार' के नाम से अभिहित हुआ है। इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से 'द्वार' तथा 'द्वारी' शब्दों का अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

मन एवं अहंकार के सहित बुद्धि की त्रैकालिक पदार्थों में गति होती है। वह भूत, भविष्य तथा वर्तमान काल से संबन्धित पदार्थों को ग्रहण करने में समर्थ होती है। इसलिये अन्तःकरण को 'द्वारी' कहा गया है। बाह्यकरण 'द्वार' हैं। आशय यह है कि इन्द्रियों के द्वारा गृहीत विषय का; मन के 'संकल्पित' एवं अहंकार के 'अभिमत' व्यापार के पश्चात्, बुद्धि 'निश्चय' करती है। एतावता बाह्यकरण की अपेक्षा अन्तःकरण का प्राधान्य सिद्ध होता है ॥ ३५ ॥

[अन्तःकरणत्रय में बुद्धि की प्रधानता]

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥

अन्वयः—एते गुणविशेषाः परस्परविलक्षणा (अपि) प्रदीपकल्पाः पुरुषस्य कृत्स्नम् अर्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥

कारिकार्थः—त्रिगुण के विकारस्वरूप श्रोत्रादि दस, मन और अहंकार—विषयग्रहण की परस्पर विलक्षणता (भेद) से विशिष्ट हुए भी प्रदीप के प्रकाशक तत्त्वों—बत्ती, तेल तथा अग्नि की भांति परस्पर मिलकर; पुरुष को समस्त पद-पदार्थ स्फुरित (प्रत्यक्ष) हो सके, तदर्थ स्वगृहीत समस्त विषय 'बुद्धि' को समर्पित कर देते हैं ॥ ३६ ॥

भाष्यम्—किञ्चान्यत्-यानि करणान्युक्तानि-एते गुणविशेषाः । किं विशिष्टः । प्रदीपकल्पाः = प्रदीपवद्विषयप्रकाशकाः । परस्परविलक्षणाः = असदृशाः, भिन्नविषया इत्यर्थः । गुणविशेषेति । गुणविशेषाः = गुणेभ्यो जाताः । कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं बुद्धीन्द्रियाणि, कर्मेन्द्रियाण्यहङ्कारो मनश्चैतानि स्व स्वमर्थं पुरुषस्य प्रकाश्य, बुद्धौ प्रयच्छन्ति = बुद्धिस्थं कुर्वन्तीत्यर्थः । यतो बुद्धिस्थं सर्वं विषयसुखादिकं पुरुष उपलभते ॥ ३६ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[गत कारिका में बाह्यकरण की अपेक्षा अन्तःकरण की श्रेष्ठता (द्वारिता = प्रधानता) प्रतिपादित हुई है। सम्प्रति, अन्तःकरण के त्रिविध तत्त्वों में भी बुद्धि को प्रधान बतलाते हुए उसका 'सर्वोच्च स्थान' सिद्ध किया जा रहा है]

पीछे जिन करणों की चर्चा हुई है, वे ही प्रस्तुत कारिका में 'गुणविशेष'

शब्द से कहे गये हैं। इनमें कौन-सा वैशिष्ट्य है? इस शङ्का के स्पष्टीकरण के लिये 'प्रदीपकल्पा' पद आया है। ये विषयों को उसी प्रकार प्रकाशित करते हैं, जिस प्रकार दीपक। गुणों की प्रदीप-तुल्यता को तेरहवीं कारिका में विस्तारपूर्वक समझाया जा चुका है, अतः वहीं द्रष्टव्य हैं। ये करण एक दूसरे के सदृश नहीं हैं, क्योंकि इनके विषय भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे श्रोत्र 'शब्द' को ही ग्रहण करता है, 'स्पर्शादि' को नहीं। वाणी से 'वाग्व्यवहार' ही किया जाता है, पदार्थ का ग्रहण, गमन तथा आनन्द आदि नहीं। मन 'संकल्प' करता है, 'अभिमान' नहीं। अहंकार 'अभिमान' करता है, 'संकल्प' नहीं। इसी प्रकार अन्य करणों को भी भिन्न-भिन्न विषय वाला समझ लेना चाहिये। करणों की असम्बद्धता इस प्रकार भी समझी जा सकती है—जैसे; देवालय में चक्षुरिन्द्रिय भगवन्मूर्ति का अवलोकन कर रही है और मन परस्त्रीचिन्तन में सराबोर है, इत्यादि-इत्यादि। करणों की उत्पत्ति त्रिगुण से होने के कारण उन्हें 'गुणविशेष' कहा गया है। इस प्रकार करणों की त्रिगुणात्मकता भी सिद्ध होती है। उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त द्वादश (बारह) करण अपने-अपने विषय; बुद्धि के द्वारा, पुरुष को प्रदान कर पाते हैं। क्योंकि पुरुष बुद्धि में स्थित विषयों को ही प्रतिबिम्ब-विधया ग्रहण कर पाता है। इसीलिये बाह्य तथा आभ्यन्तरकरण अपने-अपने विषय बुद्धि को सौंपते हैं। आचार्य वाचस्पतिमिश्र ने तत्त्वकौमुदी में लौकिक उदाहरण[1] द्वारा विषय-समर्थन के उक्त गूढ सिद्धान्त को अत्यन्त सुबोधगम्य बना दिया है। उनका वक्तव्य है कि जिस प्रकार ग्रामाध्यक्ष किसानों से 'कर' लेकर जिलाध्यक्ष को सौंपता है और जिलाध्यक्ष सर्वाध्यक्ष को। तदनन्तर सर्वाध्यक्ष सबके नियुक्तिकर्त्ता मुख्य अधिपति तक 'कर' (टैक्स) को पहुँचाता है। उसी प्रकार बाह्येन्द्रिय पदार्थों को प्रत्यक्ष कर मन को, मन संकल्प कर अहंकार को, अहंकार अभिमान कर करणों में सर्वश्रेष्ठ बुद्धि को विषय समर्पित करता है। इस प्रकार भोग-मोक्ष के प्रति पुरुष को सहायता प्रदान करने वाली बुद्धि करणों में सर्वप्रधान सिद्ध होती है ॥ ३६ ॥

[बुद्धि के प्राधान्य का कारण]

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥३७॥

---

१. सां० त० कौ० पृ० २१७

अन्वयः—यस्मात् बुद्धिः पुरुषस्य सर्वं प्रति उपभोगं साधयति, सैव च पुनः सूक्ष्मं प्रधानपुरुषान्तरं विशिनष्टि ॥ ३७ ॥

कारिकार्थः—चूंकि; बुद्धि पुरुष के लिये सभी प्रकार के भोगों को उपस्थित करती है और वही पुनः (पुरुष को मोक्ष दिलाने के लिये) प्रकृति-पुरुष के सूक्ष्मभेद को भी करती है, इसलिये वह 'प्रधान' (प्रमुख) कही गई है ॥ ३७ ॥

भाष्य—इदञ्चान्यत्-सर्वेन्द्रियगतं त्रिष्वपि कालेषु, सर्वं प्रत्युपभोगम्—उपभोगं प्रति, देवमनुष्यतिर्यक्षु बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियद्वारेण सान्तःकरणा बुद्धिः साधयति = सम्पादयति यस्मात् तस्मात्—सैव च विशिनष्टि=प्रधानपुरुषयोर्विषयविभागं करोति, प्रधानपुरुषान्तरं = नानात्वमित्यर्थः। सूक्ष्ममिति। अनधि-कृततपश्चरणैरप्राप्यम्। 'इयं प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, इयं बुद्धिः, अहमहङ्कारः, एतानि पञ्च तन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि, पञ्च महाभूतानि, अयमन्यः पुरुष एभ्यो व्यतिरिक्त' इत्येवं बोधयति बुद्धिः, यस्याऽवापादपवर्गो भवति ॥ ३७ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थ—[गत कारिका में 'बुद्धि' को (करणों में) सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया है, लेकिन ऐसा क्यों ? मन या अहंकार को ही प्रधान मान लिया जाय ? बुद्धि को प्रधान मानने में कोई युक्ति (विनिगमक) नहीं है ? इस शङ्का के आधार पर प्रस्तुत कारिका में बुद्धि की प्रधानता सिद्ध करने के लिये युक्ति दी जा रही है]

प्रकृति की सृष्टि-रचना का प्रयोजन पुरुष को सर्वप्रथम भोग और भोग के पश्चात् मोक्ष दिलाना है। पुरुष के प्रति भोगापवर्ग को सम्पन्न कर प्रकृति अपने को कृतकृत्य समझती है। प्रकृति अपने उक्त उद्देश्य की पूर्ति में मुख्यतया बुद्धि-तत्त्व की सहायता लेती है। इसीलिये उसने सर्वप्रथम बुद्धितत्त्व का निर्माण भी किया। इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य अहंकार आदि करणों की उत्पत्ति व्यर्थ हुई। अहंकार आदि करण भी उसी चरम उद्देश्य को पूर्ण करना अपना धर्म (कर्तव्य) समझते हैं। अतः रागद्वेष से रहित होकर वे भी स्वगृहीत विषयों को 'बुद्धि' तक यथाशीघ्र पहुँचाते जाते हैं और बुद्धि अपने में प्रतिबिम्बित पुरुष को प्रतिबिम्बविधया[1] विषयों का ग्रहीता एवं भोक्ता बनाती रहती है। विषयग्रहण के लिये पुरुष सभी करणों में पृथक्-पृथक् प्रतिबिम्बित होता है, ऐसी सांख्य-दार्शनिकों की विचारधारा नहीं है। उनकी मान्यता के अनुसार प्रतिबिम्बग्राहकशक्ति

---

१. बिम्बानुरूपप्रतिच्छायाभवनम् अनुकरणं वा प्रतिबिम्बनम्।

एक मात्र बुद्धि में ही है, अतः वह प्रतिबिम्बग्राहिणी बुद्धि से ही सम्पर्क स्थापित करता है। इस प्रकार पुरुष के भोक्तृत्व में साक्षात् साधन होने के कारण बुद्धि को 'प्रधान' कहा गया है। आचार्य गौडपाद के भाष्य का यही आशय है ॥ ३७ ॥

[विषयरूप विशेष तथा अविशेष]

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ ३८ ॥

अन्वयः—तन्मात्राणि अविशेषाः तेभ्यः पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि एते विशेषा स्मृताः, च (यतः) शान्ताः घोराः मूढाः च (सन्ति) ॥ ३८ ॥

कारिकार्थः—शब्दादि पांच सूक्ष्म तन्मात्राएं 'अविशेष' कही जाती हैं। इन पांच से शब्दादि पांच स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं, इन्हें ही 'विशेष' कहा जाता है क्योंकि ये शान्त, घोर एवं मूढरूप होते हैं ॥ ३८ ॥

भाष्यम्—पूर्वमुक्तं—विशेषाऽविशेषविषयाणि । तत् के विषयास्तान् दर्शयति। यानि पञ्च तन्मात्राण्यहङ्कारादुत्पद्यन्ते ते-शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रम् ,-एतानि-अविशेषा उच्यन्ते। देवानामेते सुखलक्षणा विषया दुःखमोहरहिताः। तेभ्यः पञ्चभ्यः = तन्मात्रेभ्यः, पञ्च महाभूतानि = पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशसंज्ञानि यान्युत्पद्यन्ते—एते स्मृता विशेषाः। गन्धतन्मात्रात् पृथिवी। रसतन्मात्रादापः। रूपतन्मात्रात्तेजः। स्पर्शतन्मात्रा—द्वायुः। शब्दतन्मात्रादाकाशः। इत्येवमुत्पन्नान्येतानि महाभूतानि, एते विशेषाः = मानुषाणां विषयाः, शान्ताः = सुखलक्षणाः, घोराः = दुःखलक्षणाः, मूढाः = मोहजनकाः। यथा—आकाशः कस्यचिदनवकाशादन्तर्गृहादेर्निर्गतस्य सुखात्मकः शान्तो भवति। तदेव शीतोष्णवातवर्षाभिभूतस्य दुःखात्मकः घोरो भवति। स एव पन्थानं गच्छतो वनमार्गाद् भ्रष्टस्य दिङ्मोहान्मूढो भवति। एवं वायुर्धर्मार्त्तस्य शान्तो भवति, शीतार्त्तस्य घोरो, धूलिशर्कराविमिश्रोऽतिवान् मूढ इति। एवं तेजः प्रभृतिषु द्रष्टव्यम् ॥ ३८ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[चौंतीसवीं कारिका में इन्द्रियों के ग्रहण करने योग्य पदार्थों का 'विशेष' तथा 'अविशेष' रूप से संकेत दिया गया था। प्रस्तुत कारिका में उसी का विशदीकरण हो रहा है]

तामस अहंकार से पांच तन्मात्राओं का आविर्भाव (उत्पत्ति) होता है।

शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र तथा गन्धतन्मात्र—ये पांच तन्मात्राएं हैं। इन्हें सांख्ययोगशास्त्र में 'अविशेष' नाम से परिभाषित किया है। देवताओं की विषयीभूत तन्मात्राएं सुखस्वरूप हैं। ये रजोगुण एवं तमोगुण से रहित हैं। आशय यह है कि यद्यपि इनमें भी रजस् एवं तमस् रहते हैं तथापि वे उत्कट सत्वगुण से अभिभूत रहते हैं। इस प्रकार शान्तत्व, घोरत्व तथा मूढत्व रूप से इनका विभाग नहीं किया जा सकता है, इसलिये ये 'अविशेष' कही जाती हैं।

अविशेषस्वरूप पांच तन्मात्राओं से पांच महाभूतों का आविर्भाव (उत्पत्ति) होता है। जैसे गन्धतन्मात्र से पृथ्वी, रसतन्मात्र से जल, रूपतन्मात्र से तेज, स्पर्शतन्मात्र से वायु तथा शब्दतन्मात्र से आकाश-भूत उत्पन्न होता है। प्रसङ्गतः इतना विशेष ज्ञातव्य है कि शब्दादि पञ्चतन्मात्राओं से समुद्भूत आकाशादि पांच भूत क्रमशः एक, द्वि, त्रि, चतुः तथा पञ्चगुणक हैं। ये ही पांच भूत 'विशेष' नाम से जाने जाते हैं। ये मनुष्यों के उपभोग में आने वाले 'विषय' हैं। भूत; 'विशेष' नाम से इसलिये कहे जाते हैं कि इनका सुखात्मक शान्तरूप, दुःखात्मक घोर रूप तथा मोहात्मक मूढरूप अत्यन्त स्फुट रहता है। विशिष्यतेऽनेनेति विशेषः। जैसे गर्भरूप गृह से बाहर निकला शिशु अवकाशात्मक प्रदेश में अत्यधिक आनन्दित होता है। उसके लिये आकाश सुखप्रद सिद्ध होता है। वही आकाश; शीत अथवा उष्ण वायु तथा वर्षा से ताडित व्यक्ति के लिये, दुःखप्रद होता है तथा वही आकाश; अरण्य में मार्ग-विस्मृत व्यक्ति के लिये, मोहप्रद होता है। इस प्रकार आकाशभूत की सुख-दुःखमोहजनकता समझ में आ जाती है। अब वायुभूत को लिया जाय। गर्मी से त्रसित व्यक्ति के लिये वायु सुखप्रद, शीत से कम्पित व्यक्ति के लिये वायु दुःखप्रद तथा धूलिकण से मिश्रित अरुचिकर वायु सभी के लिये मोहप्रद सिद्ध होती है। अन्यभूतों को त्रिगुणात्मकता भी इसी प्रकार की है। माठरवृत्ति में अग्नि, जल तथा पृथ्वी भूत के 'विशेषत्व' को भी उदाहरण देकर स्पष्ट कर दिया है[1] ॥ ३८ ॥

---

१. एवमग्निः शीतार्तस्य शान्तः। ग्रीष्मकाले तापार्तस्य घोरः। ग्रामादिदाहे प्रवृद्धोऽग्निः पुंसो मोहोत्पादकतया मूढः। एवमापो धर्मार्तस्य सुखदत्वाच्छान्ताः। हेमन्ते दुःखदत्वात् घोराः। समुद्रमध्यगतस्य पुंसः तीरमपश्यतो मोहहेतुत्वान्मूढाः। एवं पृथ्वी नवशाद्वलोपचिता प्रावृषि सुखकारिणीति शान्ता। ग्रीष्मकाले उष्णवालुका घोरा। सैव पथिकस्य मार्गानभिज्ञस्य प्राणिग्रामाद्यपश्यतो मूढा। (मा० वृ० पृ० ५४-५५)

[विशेषों के अवान्तरभेद तथा उनका स्वरूप]

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः ।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥

अन्वयः—सूक्ष्माः, मातापितृजाः, प्रभूतैः सह विशेषाः त्रिधा स्युः । तेषां सूक्ष्माः नियताः, मातापितृजा (महाभूतानि च) निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥

कारिकार्थः—सूक्ष्मशरीर[1], मातापिता से उत्पन्न षाट्कौशिक स्थूलदेह तथा पञ्चस्थूलभूत—ये तीन 'विशेष' कहे जाते हैं। इनमें सूक्ष्मशरीर नित्य तथा माता-पिता के संयोग से समुपजात स्थूलशरीर (इसी प्रकार पञ्चस्थूलभूत) निवर्तन-शील हैं ॥ ३९ ॥

भाष्यम्—अथाऽन्ये विशेषाः, सूक्ष्माः = तन्मात्राणि, यत्संगृहीतं तन्मात्रकं सूक्ष्मशरीरं महदादि लिङ्गं सदा तिष्ठति, संसरति च, ते—सूक्ष्माः । तथा माता-पितृजाः = स्थूलशरीरोपचायकाः, ऋतुकाले मातापितृसंयोगे शोणितशुक्रमिश्रीभावे-नोदरान्तःसूक्ष्मशरीरस्योपचयं कुर्वन्ति । तत् सूक्ष्मशरीरं पुनर्मातुरशितपीतनाना-विधरसेन नाभिनिबन्धेनाऽऽप्यायते, तथाप्यारब्धं शरीरं सूक्ष्मैर्मातापितृजैश्च सह महाभूतैस्त्रिधा विशेषैः, पृष्ठोदरजङ्घाकट्युरःशिरःप्रभृति षाट्कौशिकं, पाञ्च-भौतिकं रुधिरमांसस्नायुशुक्रास्थिमज्जासंभृतम्, आकाशोऽवकाशदानाद्, वायुर्वर्द्ध-नात्, तेजः पाकाद्, आपः संग्रहात्, पृथिवी धारणात्, समस्तावयवोपेतं मातुरुदराद्बहिर्भवति । एवमेते त्रिधा विशेषाः स्युः । अत्राह—के नित्याः, के वा अनित्याः ? । सूक्ष्मास्तेषां नियताः । सूक्ष्माः = तन्मात्रसंज्ञकास्तेषां मध्ये नियताः = नित्याः, तैरारब्धशरीरमधर्मवशात् पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरजातिषु संसरति, धर्मवशादिन्द्रादिलोकेषु । एवमेतन्नियतं सूक्ष्मशरीरं संसरति न याव-ज्ज्ञानमुत्पद्यते । उत्पन्ने ज्ञाने विद्वान् शरीरं त्यक्त्वा, मोक्षं गच्छति तस्मादेते विशेषाः सूक्ष्मा नित्या इति । मातापितृजा निवर्तन्ते । तत् सूक्ष्मशरीरं परित्य-ज्यैहैव प्राणत्यागवेलायां मातापितृजा निवर्तन्ते । मरणकाले मातापितृजं शरीरमि-हैव निवृत्य भूम्यादिषु प्रलीयते, यथातत्त्वम् ॥ ३९ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[गत कारिका में ज्ञान के विषयीभूत दो

---

१. वेदान्तिनां मते अपञ्चीकृतानि पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि सूक्ष्माणि तन्निर्मितं शरीरं सूक्ष्मशरीरम् । तदुक्तम्—'पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् । अपञ्चीकृत-भूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं योगसाधनम् ॥" सांख्यास्तु महदहंकारैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्राणां समुदायः सूक्ष्मशरीरम् ।

प्रकार के पदार्थों के बारे में कहा गया। सम्प्रति, आचार्य ईश्वर कृष्ण वर्तमान कारिका द्वारा 'विशेष' के प्रभेदों का व्याख्यान करते हैं] जैसा कि अग्रिम कारिका में बताया जायगा कि सूक्ष्मशरीर अठारह अवयवों का संघातविशेष है। सूक्ष्मशरीर के अठारह अवयवों में पांच तन्मात्राएं भी आती हैं। आचार्य गौडपाद, 'विशेष' के प्रथम भेद 'सूक्ष्मशरीर' के तन्मात्रघटक होने से उसी के आधार पर कारिकागत 'सूक्ष्माः' पद की व्याख्या करते हैं]

'सूक्ष्मा' पद का अर्थ 'तन्मात्राएं' हैं, उससे संगृहीत तत्त्व तन्मात्रक हुआ। इस प्रकार सूक्ष्मशरीर तन्मात्रक है। आशय यह है कि सृष्टि के आरम्भ में तन्मात्राओं से ही तीनों लोकों के सूक्ष्मशरीर का निर्माण होता है। 'सूक्ष्मशरीर' का दूसरा विशेषण 'महदादि लिङ्गं' है अर्थात् जिसके आदि में महत् (बुद्धि-तत्त्व) है, ऐसा सूक्ष्मशरीर लयशील (संसरणशील)। अर्थात् प्रलयकाल में लय को प्राप्त हुए सूक्ष्मशरीर का सृष्टिकाल में पुनः आविर्भाव होता है। इस प्रकार 'विशेष' के प्रथम भेद 'सूक्ष्मशरीर' की व्याख्या समाप्त हुई।

'मातापितृजा' = माता पिता के संयोग से उत्पन्न स्थूलशरीर दूसरे प्रकार का 'विशेष' है। उसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य गौडपाद लिखते हैं कि स्थूलशरीर के उपचायक; ऋतुकाल में माता–पिता के संयोगवशात् शोणित एवं शुक्र के एकत्रीभवन से शरीर के अन्दर, सूक्ष्मशरीर को परिपुष्ट (बढ़ाते) करते हैं। यह सूक्ष्मशरीर नाभि के माध्यम से माता द्वारा खाये–पीये (युक्त–पीत) अनेक प्रकार के रसों से तृप्त होता है।

ऊपर वर्णित दो प्रकार के 'विशेष' तथा 'महाभूत' को मिलाकर तीन प्रकार के 'विशेष' हो जाते हैं। द्वितीय प्रकार के विशेषस्वरूप 'स्थूलशरीर' के निर्माण में तीसरे प्रकार का 'विशेष' सहायता प्रदान करता है। स्थूलशरीर को अवकाश प्रदान करने में आकाश, विहरण करने में भूमि, शरीर के अवयवों का संगठन एवं शुद्धिकरण में जल, भुक्त अन्नादि के परिपाक (पचाने) में अग्नि तथा शरीर की वृद्धि में वायु—सहायक होती है। इसीलिये षाट्कौशिक—रुधिर, मांस, स्नायु, शुक्र, अस्थि तथा मज्जा इन षट्कोश वाला—स्थूलशरीर 'पाञ्चभौतिक' कहा जाता है। निष्कर्ष यह निकला कि अन्तःस्थित सूक्ष्मशरीर से युक्त पांच-भौतिक स्थूलदेह माता के उदर से बाहर निःसृत होता है।

ऊपर उल्लिखित तीन प्रकार के विशेषों में तन्मात्रसंज्ञक विशेष अर्थात् सूक्ष्म-शरीर 'नित्य' है। तन्मात्राओं से निर्मित यह सूक्ष्मशरीर अधर्म के कारण पशु,

मृग, पक्षी, सरीसृप तथा स्थावरादि योनियों में संसरण करता है और धर्म के कारण इन्द्रादि लोकों में। नित्य सूक्ष्मशरीर का संसरण-व्यापार तब तक चलता है, जब तक व्यक्ति में विवेकज्ञान जागृत नहीं होता है। साधना द्वारा विवेकज्ञान के उत्पन्न होते ही—प्रारब्धकर्मजन्य भोग के पश्चात्—व्यक्ति का शरीर से संबन्ध छूट जाता है। पुरुष की यही केवलता—शरीरासम्पृक्तता—'कैवल्य' कही जाती है। इस प्रकार सूक्ष्मशरीर की नित्यता का यह अर्थ हुआ कि चेतन (पुरुष) के मोक्ष से पूर्व तक प्रत्येक पुरुष के साथ एक-एक सूक्ष्मशरीर का नियतसम्बन्ध रहना'। स्थूलशरीर नाशशील है। प्राणोच्छेद होते ही मातापितृज स्थूलशरीर निवृत्त (नष्ट) हो जाता है। अर्थात् पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर के 'पार्थिव' आदि अंश अपने-अपने भूत में समाविष्ट (लीन) हो जाते हैं। 'विशेष' का तृतीय भेद बाह्य पञ्चमहाभूत तो 'निवर्तनशील' ही है ॥ ३९ ॥

[सूक्ष्मशरीर का स्वरूप]

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ ४० ॥

अन्वयः—पूर्वोत्पन्नम्, असक्तं, नियतम्, महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं, निरुपभोगं, भावैः अधिवासितं, लिङ्गं (सूक्ष्मशरीरं) संसरति ॥ ४० ॥

कारिकार्थः—सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न, व्यवधानरहित अर्थात् इच्छानुसार शिला, परमाणु आदि में प्रवेश की सामर्थ्य से युक्त, मोक्षपर्यन्त नित्य, महदादि से लेकर सूक्ष्म तन्मात्रपर्यन्त पदार्थों से निर्मित, स्थूलशरीर के बिना भोग की सामर्थ्य से रहित, धर्मादि आठ भावों से युक्त तथा महाप्रलय के समय लय को प्राप्त होने वाला 'लिङ्गशरीर' (सूक्ष्मशरीर) संसरण करता है ॥ ४० ॥

भाष्यम्—सूक्ष्मं च कथं संसरति ?। तदाह—यदा लोका अनुत्पन्नाः प्रधानादिसर्गे तदा सूक्ष्मशरीरमुत्पन्नमिति। किञ्चाऽन्यत् असक्तं—न संयुक्तं,-तिर्यग्योनिदेवमानुषस्थानेषु, सूक्ष्मत्वात्, कुत्रचिदसक्तं, पर्वतादिषु अप्रतिहतप्रसरं संसरति = गच्छति। नियतम्। यावन्न ज्ञानमुत्पद्यते तावत् संसरति। तच्च—महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्। महानादौ यस्य तत्—महदादि = बुद्धि-रहङ्कारो, मन इति। पञ्च तन्मात्राणि (= सूक्ष्माः)। सूक्ष्मपर्यन्तं = तन्मात्रपर्यन्तं, संसरति = शूलग्रहपिपीलिकावत् लोकान् त्रीनपि लोकान्। निरुपभोगं = भोग-रहितं। तत् सूक्ष्मशरीरं माता-पितृजेन बाह्येनोपचयेन क्रियाधर्मग्रहणाद्भोगेषु समर्थं भवतीत्यर्थः। भावैरधिवासितम्। पुरस्ताद्भावान् = धर्मादीन् वक्ष्यामः—

(४३ का०) । तैरधिवासितम् = उपरञ्जितम् । लिङ्गमिति । प्रलयकाले महदादि सूक्ष्मपर्यन्तं करणोपेतं प्रधाने लीयते, असंसरणयुक्तं सत् आसर्गकालमत्र वर्तते प्रकृतिमोहबन्धनबद्धं सत् संसरणादिक्रियास्वसमर्थमिति । पुनः सर्गकाले संसरति तस्माल्लिङ्गं—सूक्ष्मम् ॥ ४० ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[गत कारिका में ज्ञान के विषयीभूत 'विशेष' के तीन अवान्तरभेदों की ओर जिज्ञासुओं का ध्यान आकृष्ट किया गया। उनमें से सूक्ष्मशरीर के विषय में विशेष विचार करना आवश्यक है। सम्प्रति, तत्संबन्धित एकाधिक कारिकाएँ उपस्थित की जा रही हैं]

सृष्टि के आदिकाल में जब लोकों की उत्पत्ति भी नहीं हुई थी तभी प्रधान ने 'सूक्ष्मशरीर' का निर्माण किया। अर्थात् सर्व प्राथमिक सृष्टि के समय प्रधान ने प्रत्येक पुरुष के लिये एक-एक सूक्ष्मशरीर का निर्माण किया। इसीलिये सूक्ष्मशरीर को 'पूर्वोत्पन्न' कहा गया। सूक्ष्मशरीर 'असक्त' है, 'न संयुक्तम् असक्तम्' अर्थात् देव, मनुष्य, तिर्यगादि योनियों में संयुक्त होकर नहीं रहता है। 'अमल' पद का दूसरा अर्थ गति का विघात न होना है। अर्थात् सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्म-शरीर अप्रतिहतगति से पर्वतादि में प्रवेश कर पाता है। सूक्ष्मशरीर 'नियत' है। सूक्ष्मशरीर प्रकृति पुरुष की भांति अनादि और अनन्त अर्थात् नित्य नहीं है तथा स्थूलदेह की भांति देहपात के पश्चात् नष्ट (अनित्य) नहीं होता है। मध्यमस्थानीय यह तत्त्व विवेकज्ञान के पूर्व तक जन्मजन्मान्तरपर्यन्त नियत रहता है। निर्दयी मृत्यु (देहपात) उसे नहीं झकझोर पाती। लेकिन विवेकज्ञान के आगे उसकी नहीं चलती है। विवेकज्ञान के समक्ष उसे घुटने टेकने ही पड़ते हैं। विवेकाग्नि उसके स्वरूप को तहसनहस कर ही देती है। निष्कर्ष यह हुआ कि अज्ञान के कारण जन्म-जन्मान्तर पर्यन्त अपनी स्थिति बनाये रखने वाला सूक्ष्म-शरीर विवेकज्ञान होते ही नष्ट हो जाता है। सूक्ष्मशरीर की स्थिति के प्रतिद्वन्द्वी विवेकज्ञान का स्वरूप आगे बताया जावेगा। 'महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्' इस अंश से सूक्ष्मशरीर के विघटक तत्त्वों की ओर इङ्गित किया है। बुद्धि, अहंकार, मन तथा पञ्चतन्मात्राओं का समष्टिरूप 'सूक्ष्मशरीर' है। इस प्रकार सूक्ष्मशरीर अष्टावय-वात्मक है। यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि आचार्य गौडपाद का 'सूक्ष्मशरीर' के उक्त आठ अवयवों वाला सिद्धान्त सांख्यशास्त्रियों को समादरणीय प्रतीत न हुआ और यह अष्ट संख्या 'अष्टादश' में परिवर्तित हुई। आचार्य वाचस्पति मिश्र आदि सांख्य के व्याख्याकारों ने उक्त आठ तत्त्वों में दस ज्ञानेन्द्रियों को

समाविष्ट कर अष्टादश संख्या को पूर्ण किया[1]। सूक्ष्मशरीर 'निरुपभोग' है। उसमें स्वतन्त्र रूप से शब्दादि विषयों का उपभोग करने की सामर्थ्य नहीं है। वह स्थूलशरीर की सहायता से ही अर्थात् उसमें अधिष्ठित होकर ही भोग कर पाता है। इसी सिद्धान्त के पुष्टीकरण के लिये आचार्य गौडपाद लिखते हैं कि सूक्ष्मशरीर माता-पिता के संयोग से उत्पन्न स्थूलशरीर की सहायता द्वारा क्रियाधर्म को ग्रहण करने में समर्थ होता है, यही सूक्ष्मशरीर का 'भोग' कहा जाता है। सूक्ष्मशरोर 'भावैरधिवासितम्' है। धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, वैराग्य-अवैराग्य—ये आठ 'भाव' माने जाते हैं। सूक्ष्मशरीर इन आठ भावों से उपरञ्जित रहता है। तात्पर्य यह है कि उक्त आठ भाव बुद्धि के धर्म हैं। बुद्धि, सूक्ष्मशरीर का एक अवयव है। अवयवतम बुद्धि के धर्म अवयवीरूप सूक्ष्मशरीर में उपसंक्रमित होने से 'सूक्ष्मशरीर' 'भावयुक्त' कहा जाता है। सूक्ष्मशरीर 'लिङ्ग' है। प्रलयकाल में सूक्ष्मशरीर के संघटक तत्त्व—महत् से लेकर तन्मात्रपर्यन्त—प्रधान में लीन हो जाते हैं। जिसके फलस्वरूप सूक्ष्मशरीर का संसरण पुनः सृष्ट्युद्भव पर्यन्त अवरुद्ध रहता है। यह इसलिये होता है कि इस समय सूक्ष्मशरीर प्रकृति के मोहबन्धन में अत्यधिक जकड़ा रहता है। अतः 'लिङ्ग' को भी सूक्ष्मशरीर का स्वरूप कहा गया है। उपर्युक्त वर्णन से सूक्ष्मशरीर का स्वरूप समझ में आ जाता है ॥ ४० ॥

[सूक्ष्मशरीर की आवश्यकता]

चित्रं यथाऽऽश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया ।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—यथा चित्रं आश्रयम् ऋते (न तिष्ठति), यथा छाया स्थाण्वादिभ्यो विना (न तिष्ठति), तद्वत् लिङ्गं विशेषैः विना निराश्रयं न तिष्ठति ॥ ४१ ॥

कारिकार्थः—जिस प्रकार आश्रय के बिना चित्र और स्थाणु (आधार) के बिना छाया नहीं रह सकती है उसी प्रकार सूक्ष्मशरीर (रूप अवयवी) के बिना निराधार बुद्धि आदि (अवयव) नहीं रह सकते हैं ॥ ४१ ॥

भाष्यम्—'किंप्रयोजनेन त्रयोदशविधं करणं संसरतीत्येवं चोदिते सति—आह—चित्रं यथा कुड्याद्याश्रयमृते न तिष्ठति, स्थाण्वादिभ्यः = कीलकादिभ्यो विना यथा छाया न तिष्ठति = तैर्विना न भवति। आदिग्रहणाद्यथा—शैत्यं विना नाऽऽपो भवन्ति, शैत्यं वाऽद्भिर्विना। अग्निरुष्णं विना, वायुः स्पर्श

१. महदहङ्कारैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रपर्यन्तम्। (सां० त० कौ० पृ० २२४)

विना, आकाशमवकाशं विना, पृथ्वी गन्धं विना । तद्वद् = एतेन दृष्टान्तेन न्यायेन, विनाऽविशेषैः = अविशेषैस्तन्मात्रैर्विना न तिष्ठति । अथ विशेषभूतान्युच्यन्ते । शरीरं पञ्चभूतमयम् , विशेषिणा शरीरेण विना क्व, लिङ्गस्थानं चेति क्व, (यदैव) एकदेहमुज्झति तदैवाऽन्यमाश्रयति । निराश्रयम् = आश्रयरहितम् । लिङ्गं = त्रयोदशविधं करणमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[गत कारिका में 'महदाद्विसूक्ष्मपर्यन्तम्' के द्वारा सूक्ष्मशरीर के घटकीभूत महदादि तत्वों को सूक्ष्मशरीर से पृथक् बतलाया गया हैं । यहां एक शङ्का उत्पन्न होती है कि सूक्ष्मशरीर की कल्पना ही व्यर्थ है क्योंकि तत्संबन्धित उद्देश्य की पूर्ति अहंकार एवं इन्द्रियों की सहायता लेकर बुद्धि ही कर सकती हैं ? प्रस्तुत कारिकाओं में अवयवस्थानीय 'बुद्धि' आदि से भिन्न अवयवी स्थानीय 'सूक्ष्मशरीर' की कल्पना क्यों आवश्यक है इसे दोनों के आश्रय-आश्रयिभावसम्बन्ध के आधार पर सोदाहरण समझाया जा रहा है]

जिस प्रकार चित्रकार भित्ति, पत्थर, लकड़ी आदि किसी आधार को प्राप्त किये बिना अपने मनः पटल पर अंकित चित्र को मूर्त्त रूप नहीं दे सकता है । सरल शब्दों में आधार के बिना चित्र नहीं खींचा (अंकित किया) जा सकता है, क्योंकि वह निराधार नहीं ठहर सकता है । स्थाणु आदि किसी स्थूल पदार्थ के बिना उसकी छाया नहीं पड़ सकती है । कारिकागत 'आदि' पद से शीतलता के विना जल तथा जल के बिना शीतलता, ऊष्णता के विना अग्नि तथा अग्नि के बिना ऊष्णता, स्पर्श के बिना वायु और वायु के विना स्पर्श, अवकाश के बिना आकाश तथा आकाश के बिना अवकाश की स्थिति असम्भव बतलाई गई है । कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार आश्रय के बिना आश्रयी की स्थिति सम्भव नहीं होती है उसी प्रकार सूक्ष्मशरीर रूप आश्रय के बिना बुद्ध्यादि आश्रयी नहीं रह सकते हैं । अतः संसरण रूप व्यापार के लिये बुद्ध्यादि से भिन्न सूक्ष्मशरीर की कल्पना करना निरर्थक नहीं है, अपितु सार्थक है क्योंकि उनमें आश्रयाश्रयिभावसंबन्ध है ।

इस प्रकार त्रयोदशकरणों के लिये सूक्ष्म शरीर की आवश्यकता बतलाकर आचार्य गौडपाद अब सूक्ष्मशरीर के लिये स्थूलशरीर की आश्रयता सिद्ध करते हैं ।

'विशेष' स्थानीय पञ्चमहाभूत से निर्मित 'स्थूलशरीर' 'पाञ्चभौतिक' कहलाता

है। जिस प्रकार बुद्धयादि करणों को आधारभूत सूक्ष्मशरीर की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार निराधार सूक्ष्मशरीर 'स्थूलशरीर' के आश्रय से रहता है। वह एक स्थूलदेह को छोड़कर तुरन्त दूसरे देह को आश्रय बना लेता है ॥ ४१ ॥

[सूक्ष्मशरीर के संसरण का हेतु तथा प्रकार]

¹पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—पुरुषार्थहेतुकम् इदं लिङ्गं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन प्रकृतेर्विभुत्वयोगात् नटवत् व्यवतिष्ठते ॥ ४२ ॥

कारिकार्थः—भोगापवर्गरूप पुरुषार्थद्वय का हेतु यह सूक्ष्मशरीर धर्मादि निमित्त तथा तन्निमित्तक स्थूलशरीर के संयोग से प्रकृति की विभुत्वशक्ति के कारण नट की भांति व्यापार [आचार = संसरण] करता है। अर्थात् नट के द्वारा धारण किये राम, कृष्ण आदि नानाविध रूपों के समान सूक्ष्मशरीर भी देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनेक योनियों के रूप धारण करता है ॥ ४२ ॥

भाष्यम्—किमर्थम्? तदुच्यते—पुरुषार्थः कर्त्तव्य' इति प्रधानं प्रवर्त्तते। स च द्विविधः, शब्दाद्युपलब्धिलक्षणो, गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणश्च। शब्दाद्युपलब्धिर्ब्रह्मादिषु लोकेषु गन्धादिभोगाऽवाप्तिः। गुणपुरुषान्तरोपलब्धिर्मोक्ष इति। तस्मादुक्तं—पुरुषार्थहेतुकमिदं सूक्ष्मशरीरं प्रवर्त्तते इति। निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन। निमित्तं = धर्मादि, नैमित्तिकम् ऊर्ध्वगमनादि पुरस्तादेव वक्ष्यामः प्रसंगेन प्रसक्तया। प्रकृतेः = प्रधानस्य, विभुत्वयोगात्। यथा—राजा स्वराष्ट्रे विभुत्वाद्यद्यदिच्छति तत्तत्करोतीति, तथा प्रकृतेः सर्वत्र विभुत्वयोगान्निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन व्यवतिष्ठते = पृथक् पृथग्देहधारणे लिङ्गस्य व्यवस्थां करोति। लिङ्गं = सूक्ष्मैः=परमाणुभिस्तन्मात्रैरुपचितं शरीरं, त्रयोदशविधकरणोपेतं मानुषदेवतिर्यग्योनिषु व्यवतिष्ठते। कथम्? नटवत्। यथा नटः पटान्तरेण प्रविश्य देवो भूत्वा निर्गच्छति, पुनर्मानुषः, पुनर्विदूषकः एवं लिङ्गं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेनोदरान्तः प्रविश्य-हस्ती, स्त्री, पुमान् भवति ॥ ४२ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[पिछली उन्तालीसवीं कारिका से सूक्ष्मशरीर की सत्ता के स्थापनार्थ अनेक प्रयास करते रहे हैं। इससे सूक्ष्मशरीर का स्वरूप भी प्रकाश में आया है। अब यह जिज्ञासा होती है कि सूक्ष्मशरीर किस

१. पुरुषस्य अर्थः प्रयोजनं पुरुषार्थः।

कारण और किस तरह संसरण करता है ? प्रस्तुत कारिका हमारी इसी जिज्ञासा को शान्त करती है]

श्रुति, स्मृति के ग्रन्थों में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चार पुरुषार्थ माने गये हैं[1] । सांख्ययोगदर्शन के आचार्यों ने उक्त चार को दो में सीमित कर दिया है। वे दो पुरुषार्थ भोग एवं मोक्ष हैं। 'भोग' का अर्थ है—'विषयोपलब्धि' अर्थात् जागतिक पदार्थों से सुखदुःख का अनुभव होना तथा 'मोक्ष' का अर्थ है 'गुणपुरुषान्यतोपलब्धि' अर्थात् जडस्वरूप गुणवंश तथा पुरुषवंश का पृथक्-पृथक् अपरोक्ष ज्ञान होना, आचार्य गौडपाद ने उक्त दोनों उपलब्धियों को क्रमशः 'ब्रह्मादि लोक में गन्धादि भोग की प्राप्ति तथा 'मोक्ष' शब्द से कहा है। पुरुष को भोग और भोग के पश्चात् मोक्ष प्रदान करने की शक्ति एकमात्र मूलतत्त्व 'प्रकृति' में सन्निहित है। अतः शक्ति के अनुसार प्रवृत्ति का आश्रय भी वही (प्रकृति) है। इसीलिये भाष्य में 'प्रधानं प्रवर्तते' कहा है। इस सन्दर्भ में इतना विशेष ज्ञातव्य है कि प्रधान अपने उक्त उद्देश्य को सूक्ष्मशरीर के द्वारा पूर्ण करता है। इस प्रकार प्रधान से सुनियन्त्रित होकर सूक्ष्मशरीर क्रियायुक्त होता है। अतः (प्रधान का सहायक होने से) कारिका में सूक्ष्मशरीर को 'पुरुषार्थ का हेतु' कहा है। स्थूलशरीर का आश्रय लेकर यह सूक्ष्मशरीर प्रकृति द्वारा सौंपे गये उत्तरदायित्व को निभाता है। किस प्रकार यह स्थूलशरीर से सम्पर्क स्थापित करता है ? यही 'कारिकागत 'निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन' अंश के द्वारा बताया जा रहा है। धर्माधर्मादि निमित्त हैं और तन्निमित्तक स्थूलशरीर नैमित्तिक है। अर्थात् धर्मादि निमित्त से उत्पन्न स्थूलशरीर को प्राप्त करने से यह सूक्ष्मशरीर संसरण करता है। 'निमित्त' तथा 'नैमित्तिक' पदों पर विशेष विचार अग्रिम चवालीसवीं कारिका में किया जायगा।

अब सूक्ष्मशरीर के संसरण का प्रकार उदाहरण सहित बताया जा रहा है। जिस प्रकार राष्ट्र के अधिनायक (राजा) की इच्छा का विघात कथमपि नहीं होता है, क्योंकि वह विभुत्व (प्रचुरतम) शक्ति से सम्पन्न होता है। वह जिस समय जिस किसी भी कार्य की इच्छा करता है, उसी समय वह उस कार्य को करवा लेता है। उसी प्रकार सांख्यसम्मत व्यापक प्रकृति भी प्रचुरतम शक्तिसम्पन्न है। वही सृष्टि का मूल उद्गम है। वह अपनी विभुत्वशक्ति से देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि भिन्न-भिन्न योनि के देहधारण में पृथक्-पृथक् लिङ्गशरीर (सूक्ष्मशरीर)

---

१. धर्मार्थकाममोक्षाश्च पुरुषार्था उदाहृताः। (अ० पु०)
एतच्चतुर्विधं विद्यात् पुरुषार्थप्रयोजनम् ॥ (मनु० ७।१००)

की व्यवस्था करती है। यह सूक्ष्मशरीर तेरह करणों वाला है। प्रकृति के कार्य सूक्ष्मशरीर का प्रकृति से तादात्म्यसंबन्ध होने के कारण उसे भी प्रकृतिं की विभुत्वशक्ति प्राप्त रहती है। जिसके फलस्वरूप (प्रकृतिगत विभुत्वशक्ति के योग से) सूक्ष्मशरीर में अनेक प्रकार के शरीरों को ग्रहण करने की सामर्थ्य आ जाती है। वह नट की तरह विभिन्न योगियों के शरीरों में संसरण करता है। अर्थात् जिस प्रकार एक ही नट पर्दे के पीछे भिन्न-भिन्न प्रकार की वेशभूषाओं से देव, मनुष्य, विदूषक आदि का स्वरूप धारण कर दर्शकों के समक्ष अभिनय प्रस्तुत करता है उसी प्रकार सूक्ष्मशरीर हस्ती के उदर में प्रवेश कर हस्ती बन जाता है। स्त्री के शरीर में प्रवेश कर स्त्री का अभिनय करता है तथा वही पुरुष के शरीर में प्रवेश कर पुरुष का स्वांग रचता है। इस प्रकार सूक्ष्म-शरीर अनेक स्थूलशरीरों में किस प्रकार संसरण करता है, यह समझ में आ जाता है ॥ ४२ ॥

[भाव-निरूपण]

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृताश्च[1] धर्माद्याः ।
दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥४३॥

अन्वयः—भावाः—सांसिद्धिकाः, प्राकृतिकाः, वैकृताश्च [भवन्ति]। तत्र धर्माद्याः करणाश्रयिणः दृष्टाः, कललाद्याश्च कार्याश्रयिणो दृष्टाः ॥ ४३ ॥

कारिकार्थः—'भाव' तीन प्रकार के हैं—सांसिद्धिकभाव, प्राकृतिकभाव तथा वैकृतभावः। धर्मादि भाव बुद्धि=करण के आश्रय से रहते हैं तथा कललादि भाव शरीराश्रित होते हैं ॥ ४३ ॥

भाष्यम्—'भावैरधिवासितं लिङ्गं संसरती'त्युक्तं (४० का०) ततः के भावा इत्याह—भावास्त्रिविधाश्चिन्त्यन्ते,—सांसिद्धिकाः, प्राकृताः, वैकृताश्च तत्र सांसिद्धिका यथा—भगवतः कपिलस्याऽऽदिसर्गे उत्पद्यमानस्य चत्वारो भावाः सहोत्पन्नाः, धर्मो, ज्ञानं, वैराग्यमैश्वर्यमिति प्राकृताः कथ्यन्ते,–ब्रह्मणश्चत्वारः पुत्राः सनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमारा बभूवुः। तेषामुत्पन्नकार्यकारणानां शरीरिणां षोडशवर्षाणामेते भावाश्चत्वारः समुत्पन्नाः, तस्मादेते प्राकृताः। तथा वैकृता यथा—आचार्यमूर्ति निमित्तं कृत्वाऽस्मदादीनां ज्ञानमुत्पद्यते, ज्ञानाद्वैराग्यं, वैराग्याद्धर्मः, धर्मादैश्वर्यमिति। आचार्यमूर्त्तिरपि विकृतिरिति। तस्माद्वैकृता एते भावा उच्यन्ते, यैरधिवासितं लिङ्गं संसरति। एते चत्वारो भावाः सात्त्विकाः। तामसा विपरीताः सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् (२३ का०)

१. वैकृतिकाश्चेतिपाठान्तरम्।

इत्यत्र व्याख्याताः। एवमष्टौ। धर्मो, ज्ञानं, वैराग्यमैश्वर्यमधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यमित्यष्टौ भावाः। क्व वर्तन्ते ?। दृष्टाः करणाश्रयिणः। बुद्धिः = करणं तदाश्रयिणः। एतदुक्तम्—अध्यवसायो बुद्धिः, धर्मो ज्ञानमिति। कार्यं = देहस्तदाश्रयाः कललाद्या ये 'मातृजा' इत्युक्ताः। शुक्रशोणितसंयोगे विवृद्धिहेतुकाः बुद्बुदमांसपेशीप्रभृतयः, तथा कौमारयौवनस्थविरत्वादयो भावा अन्नपानरसनिमित्ता निष्पद्यन्ते, अतः कार्याश्रयिण उच्यन्ते, अन्नादिविषयभोगनिमित्ता जायन्ते ॥४३॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[चालीसवीं कारिका में 'भावैरधिवासितं लिङ्गम्' द्वारा सूक्ष्मशरीर को आठ भावों से युक्त बतलाया गया है। उसी सन्दर्भ में वर्तमान कारिका द्वारा आचार्य ईश्वरकृष्ण भाव कितने हैं और वे किसके आश्रय से रहते हैं ? इन शङ्काओं का समाधान करते हैं]

भावों का वर्गीकरणः—सर्वप्रथम आचार्य गौडपाद ने भावों के तीन विभाग किये हैं—सांसिद्धिकभाव, प्राकृतभाव तथा वैकृतभाव। सांसिद्धिक भाव ये हैं, जो जन्मतः सुलभ होते हैं। जैसे सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न भगवान् कपिल के ज्ञानादिभाव जन्मसिद्ध थे अर्थात् ज्ञानादिभावविपुलता के साथ ही उनका जन्म हुआ था। अतः वे उनके 'सांसिद्धिक भाव' कहे जाते हैं। 'प्राकृतभाव' वे हैं, जो जन्म के पश्चात् स्वभावतः (प्रयत्ननिरपेक्षतः) उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मा के चार मानसपुत्रों—सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार—के 'प्राकृतभाव' माने जाते हैं, 'सांसिद्धिक भाव' नहीं क्योंकि वे जन्मतः ज्ञानादि से सम्पन्न नहीं थे। उनमें देहधारण के अनन्तर सोलह वर्ष की अवस्था में दिव्य, ज्ञानादि का आविर्भाव हुआ था। 'वैकृतभाव' वे हैं, जो प्रयत्नसाध्य होते हैं। एक शब्द में औपदेशिक ज्ञानादि भावों को 'वैकृत' कहा गया है। जैसे पूज्य गुरुजन (आचार्यमूर्त) के उपदेश द्वारा शिष्यों में ज्ञानज्योति जागृत होती है। ज्ञान के उत्पन्न होने पर वैराग्य और वैराग्य से धर्म की ओर प्रवृत्ति होती है। धर्मभाव की पराकाष्ठा काल में एक शक्तिविशेष उत्पन्न होता है, जिसे 'ऐश्वर्य' कहते हैं। इस प्रकार प्रकृति के विकारस्वरूप आचार्यादि की अमृत-वाणी से शिष्यों में 'वैकृत भाव' का आविर्भाव होता है। तदतिरिक्त 'सांसिद्धिक' तथा 'प्राकृतिक भाव' अनौपदेशिक होते हैं।

भावों के वर्गीकरण में मतभेदः—भावों के उपरिलिखित त्रिविध वर्गीकरण में आचार्य गौडपाद पर माठरवृत्तिकार का प्रभाव परिलक्षित होता है।[1] लेकिन

---

१. त्रिविधा भावाश्चिन्त्यन्ते। (मा० वृ० पृ० ६०)

सांख्यकारिका के परवर्ती टीकाकारों को यह मत मान्य न हुआ। उनकी दृष्टि में दो ही 'भाव' हैं—सांसिद्धिक भाव तथा वैकृत भाव। वे कारिका में आये 'प्राकृतिक' शब्द को सांसिद्धिक भाव का ही स्वरूपपरिचायक मानते हैं[1]। विवाद का यह स्थल भूमिका में निर्णीत हो चुका है।

भावों के आश्रयः—चार सात्विक भाव—'धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य—तथा चार तामसभाव—अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य—बुद्ध्याश्रित हैं। सांख्यशास्त्र में आठ ही भावों की चर्चा मिलती है। बुद्धि को 'करण' कहा जाता है, यह पीछे बतला चुके हैं। 'अध्यवसायो बुद्धिः' तेईसवीं कारिका के द्वारा बुद्धि तथा धर्मादि भावों का आधार-अधेयभावसंवन्ध भी कथित हो चुका है। यहां इतना विशेप ज्ञातव्य है कि बुद्धि तथा धर्मादि का संवन्ध भूतल एवं घट के आधार-आधेयभावसंवन्ध की भांति नहीं है। भूतल और घट में अत्यन्त भेद है। अतः घट के बिना भी भूतल रहता है और भूतल को छोड़कर घट अन्यत्र भी रह सकता है। लेकिन बुद्धि और धर्मादि में अत्यन्ताभेद है। बुद्धि धर्मादि से पृथक् होकर नहीं रह सकती है। क्योंकि धर्मादि बुद्धि के स्वरूप हैं। यह सिद्धान्त है कि जो जिसका स्वरूप होता है उसे उससे पृथक् नहीं किया जा सकता है। अतः बुद्धि और धर्मादि की उपर्युक्त आधाराधेयभावपरक भेद-विवक्षा व्यवहारतः समझ लेनी चाहिये।

कुछ ऐसे भी भाव हैं, जो देहाश्रित होते हैं। ये मातापिता के संयोग से उत्पन्न बच्चों में दिखाई देते हैं। कलल, बुद्बुद्, मांसपेशी, करण्ड, अङ्ग, प्रत्यङ्ग—ये माता पिता के रजवीर्य के मिश्रण से उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार गर्भ से बाहर निकले शिशु में दुग्धादि आहार के प्रयोग द्वारा जो बाल्य, कौमार्य, यौवन तथा वार्धक्य आदि अवस्थाएं दृष्टिगत होती हैं, वे ही 'भाव' पद से कही गई हैं। इस प्रकार भावों का आश्रय कौन है ? यह जिज्ञासा समाप्त हो जाती है ॥ ४२ ॥

[धर्मादि भावों का फल]

४४ + ४५

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥

---

१. 'वैकृताः' 'नैमित्तिकः, ...'प्राकृतिकाः' स्वाभाविका भावा सांसिद्धिका—(सां० त० कौ० पृ० २३३), भावा धर्माद्या ये सांसिद्धिकाः, स्वाभाविकास्त एव प्राकृतिकाः, (ना० ती० कृत च० पृ० ३५)

अन्वयः—धर्मेण ऊर्ध्वं गमनं [भवति], अधर्मेण अधस्तात् गमनं [भवति], ज्ञानेन च अपवर्गो [भवति] विपर्ययात् बन्धः इष्यते ॥ ४४ ॥

कारिकार्थः—धर्म से ऊर्ध्वलोक की ओर गमन होता है, अधर्म से अधोलोक को ओर गमन होता है, ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है तथा विपर्यय अर्थात् अज्ञान से बन्ध होता है ॥ ४४ ॥

भाष्यम्—'निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेने'ति यदुक्तमत्रोच्यते—धर्मेण गमनमूर्ध्वम् । धर्मं निमित्तं कृत्वोर्ध्वमुपनयति । उदूर्ध्वमित्यष्टौ स्थानानि गृह्यन्ते । तद्यथा—ब्राह्मं, प्राजापत्यं साम्यमैन्द्रं, गान्धर्वं, याक्षं, राक्षसं, पैशाचमिति-तत् सूक्ष्मं शरीरं गच्छति । पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरान्तेष्वधर्मो निमित्तम् । किञ्च ज्ञानेन चापवर्गः । अपवर्गश्च पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानम् । तेन निमित्तेनापवर्गो = मोक्षः । ततः सूक्ष्मं शरीरं निवर्त्तते । परम्-आत्मा उच्यते । विपर्ययादिष्यते बन्धः अज्ञानं निमित्तम् । स चैष नैमित्तिकः—प्राकृतो, वैकारिको, दाक्षिणिकश्च बन्ध इति वक्ष्यति पुरस्तात् । यदिदमुक्तं—

प्राकृतेन च बन्धेन, तथा वैकारिकेण च ।
दाक्षिणेन तृतीयेन बद्धो, नाऽन्येन मुच्यते ॥ ४४ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[बयालीसवीं कारिका में 'निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन' के द्वारा सूक्ष्मशरीर का संसरण बतलाया गया है । सम्प्रति, धर्मादि निमित्तों में से प्रत्येक का पृथक्-पृथक् फल बताया जा रहा है]

भावस्थानीय 'धर्म' रूप निमित्त से सूक्ष्मशरीर ऊपर की ओर जाता है । इस प्रकार 'धर्म' का फल ऊर्ध्वात्यूर्ध्वलोकों की प्राप्ति है । शास्त्रों में आठ ऊर्ध्वस्थानों का वर्णन उपलब्ध होता है । आठ ऊर्ध्वस्थान इस प्रकार हैं—ब्राह्म, प्राजापत्य, सौम्य, ऐन्द्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस तथा पिशाच । 'धर्म' का प्रतिद्वन्द्वी 'अधर्म' धर्म से विपरीत फल प्रदान करता है । लिङ्गशरीर को अधोलोक की ओर ले जाने वाला यही (अधर्म) है । अधोलोक के अन्दर अतलादि आते हैं अधर्म का फल—पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप एवं स्थावर योनि (जाति) भी प्राप्त कराना है । बुद्ध्याश्रित भावों में यदि ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी क्योंकि तज्जन्य फल (मोक्ष) आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक होता है । 'ज्ञान' पद का अर्थ सांख्यशास्त्रसम्मत 'प्रकृति पुरुष का अपरोक्षात्मक भेदज्ञान' है । 'अज्ञान' प्राणी को संसाररूपी बन्धनरज्जु से बांधता है । बन्ध तीन प्रकार का है—प्राकृतबन्ध, वैकारिकबन्ध तथा दाक्षणिकबन्ध । शास्त्रों में भी इस

बात का उल्लेख हुआ है। निमित्तनैमित्तिक की दृष्टि से उपर्युक्त आशय को इस प्रकार कह सकते हैं—धर्म निमित्त तथा ऊर्ध्वगमन नैमित्तिक है। अधर्म निमित्त तथा अधोगमन नैमित्तिक है। ज्ञान निमित्त तथा अपवर्ग नैमित्तिक है। अज्ञान निमित्त तथा बन्ध नैमित्तिक है ॥ ४४ ॥

वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद् रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—वैराग्यात् प्रकृतिलयः (भवति), राजसात् रागात् संसारो भवति ऐश्वर्यात् अविघातः [भवति], विपर्ययात् तद्विपर्यासः [भवति] ॥ ४५ ॥

कारिकार्थः—वैराग्य से प्रकृतिलय, रजोमय राग से संसरण, ऐश्वर्य से इच्छा की सफलता तथा ऐश्वर्य के अभाव से उसका हनन होता है ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—तथाऽन्यदपि निमित्तं—यथा कस्यचिद्वैराग्यमस्ति, न तत्त्वज्ञानं, तस्माद् अज्ञानपूर्वाद्वैराग्यात् प्रकृतिलयः, मृतोऽष्टासु प्रकृतिषु प्रधानबुद्ध्यहङ्कार-तन्मात्रेषु लीयते, न मोक्षः। ततो भूयोऽपि संसरति। तथा योऽयं राजसो रागः—'यजामि' 'दक्षिणां ददामि, येनामुष्मिन् लोकेऽत्र यद्दिव्यं मानुषं सुखमनुभवामि'। एतस्माद्राजसाद्रागात् संसारो भवति। तथा ऐश्वर्यादविघातः। एतदैश्वर्यमष्टगुण-मणिमादियुक्तं तस्मादैश्वर्यनिमित्तादविघातो नैमित्तिको भवति = ब्राह्मादिषु स्थानेष्वैश्वर्यं न विहन्यते। किञ्चान्यत्,—विपर्ययात्तद्विपर्यासः तस्य = अविघातस्य विपर्यासो = विघातो भवति, अनैश्वर्यात् सर्वत्र विहन्यते ॥ ४५ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[गत कारिका में कथित विषय के आगे यहां विचार हो रहा है]

वैराग्य की उत्पत्ति मुख्यतः दो प्रकार से होती है—ज्ञानपूर्वक तथा अज्ञान-पूर्वक। सांख्यशास्त्रप्रतिपादित विवेकज्ञानपूर्वक होने वाला वैराग्य (परवैराग्य) असंप्रज्ञातसमाधि का मुख्य साधन है[1] और 'असंप्रज्ञात' कैवल्य का उपाय है। इस प्रकार का 'वैराग्य' मोक्ष रूप नैमित्तिक का निमित्त होता है। प्रस्तुत कारिका में जिस वैराग्य का निर्देश किया गया है वह दूसरे प्रकार का है। आठ प्रकृतियों—प्रधान, महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्र—में आत्मभावभावना करने से अन्य पाञ्च-भौतिक पदार्थों के प्रति जो वैराग्य जागृत होता है, वह (वैराग्य) अज्ञानमूलक होने से 'प्रकृतिलय' का कारण है। 'प्रकृतिलय' पद का अर्थ 'मृत्यु के पश्चात्

१. तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्—(यो० सू० १।१६)

साधक (विरागो) का अपनी-अपनी उपास्य प्रकृतियों में लीन होना' है। यह आत्यन्तिक लय नहीं है, अतः पुराणों में कथित निश्चित अवधि के पश्चात् ऐसे साधक को पुनः संसार में आना पड़ता है[1]। 'राग' विराग का शत्रु है। अभिलषित फलप्राप्ति के प्रति जो तीव्र उत्कण्ठा देखी जाती है, उसे 'राग' कहते हैं। 'राग' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य गौडपाद लिखते हैं कि 'मैं यज्ञ करता हूं, दक्षिणा देता हूं जिसके कारण इहलोक में दिव्य भोगों का उपभोग करता हूँ' इस प्रकार को भावना 'राग' कही जाती है। फल प्राप्त करने में परोपकार आदि की अधिकांशतः सम्भावना रहने से 'राग' को रजोगुणप्रधान कहा गया है। राजस राग संसार का मूलकारण है। बुद्धि का 'ऐश्वर्य' संज्ञक भाव 'अणिमा' आदि भेद से आठ प्रकार का है। ऐश्वर्यशालिनी बुद्धि की इच्छा का हनन (विघात) नहीं होता है। अर्थात् ऐश्वर्यवान् साधक स्वसंकल्पित वस्तु (विषय) को निर्विघ्नतया उपलब्ध कर लेता है। विषय-प्राप्ति में उसके लिये सीमा-बन्धन नहीं रह जाता है। बुद्धि में अनैश्वर्य का उदय होते ही ऐश्वर्य से संबन्धित सफलताएं (योग्यताएं) समाप्त हो जाती हैं। ऐश्वर्यरहित बुद्धि सर्वत्र प्रताडित होती है, वह किसी महान् उद्देश्य को पूर्ण करने में असमर्थ रहती है। इस तरह वैराग्यादि कारण एवं प्रकृतिलयादि उनके फल हैं। अतः यहां भी पूर्ववत् (गतकारिका की तरह) इनके परस्पर 'निमित्तनैमित्तिकसंवन्ध' की योजना कर लेनी चाहिये ॥ ४५ ॥

[प्रत्ययसर्ग]

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—एषः प्रत्ययसर्गः विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः [चतुर्विधा भवति] गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च पञ्चाशत् भेदाः तु [भवन्ति] ॥ ४६ ॥

कारिकार्थः—पूर्वोक्त अष्टभावात्मक बुद्धिसर्ग (संक्षेप से) विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि एवं सिद्धि नाम से चार प्रकार का है और गुणों की न्यूनाधिकता के कारण उसके (विस्तार से) पचास भेद होते हैं ॥ ४६ ॥

भाष्यम्—एष निमित्तैः सह नैमित्तिकः षोडशविधो व्याख्यातः स क्रियात्मक

१. दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।
भौतिकाश्च शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः—(वा० पु०)

इत्याह—यथा-एष षोडशविधो निमित्त-नैमित्तिकभेदो व्याख्यातः, एष 'प्रत्ययसर्ग' उच्यते। प्रत्ययो = बुद्धिरित्युक्ता, अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो, ज्ञानमित्यादि। स च प्रत्ययसर्गश्चतुर्धा भिद्यते, विपर्ययाऽशक्ति-तुष्टिसिद्ध्याख्यभेदात्। तत्र संशय-ज्ञानं विपर्ययः। यथा कस्यचित् स्थाणुदर्शने 'स्थाणुरयं, पुरुषो वे'ति संशयः। अशक्तिर्यथा—तमेव स्थाणुं सम्यग् दृष्ट्वा संशयं छेत्तुं न शक्नोतीत्यशक्तिः। एवं तृतीयस्तुष्ट्याख्यो यथा—तमेव स्थाणुं ज्ञातुं, संशयितुं वा नेच्छति, 'किमनेनाऽस्माक' मित्येषा तुष्टिः। चतुर्थः सिद्ध्याख्यो यथा—आनन्दितेन्द्रियः स्थाणुमारूढां वल्लिं पश्यति शकुनिं वा, तस्य सिद्धिर्भवति 'स्थाणुरय'मिति। एवमस्य चतुर्विधस्य प्रत्ययसर्गस्य। गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत्। योऽयं सत्त्व-रजस्तमोगुणानां वैषम्यं = विमर्दः, तेन तस्य प्रत्ययसर्गस्य पञ्चाशद्भेदा भवन्ति ॥ ४६ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[पिछली दो कारिकाओं में धर्मादि निमित्तों के सहित उनके नैमित्तिकों पर विचार किया गया। अब उस षोडशविध निमित्त का स्वरूप क्या है ? इसे प्रस्तुत कारिका में स्पष्ट किया जा रहा है]

पीछे, जो सोलह प्रकार के निमित्त नैमित्तिक भेद व्याख्यात हुए हैं, उसे 'बौद्धिक सृष्टि' कहते हैं। 'प्रतीयतेऽनेनेति प्रत्ययः' जिससे जाना जाता है, उसे 'प्रत्यय' कहते हैं। इस प्रकार 'प्रत्यय' पद का अर्थ 'बुद्धि हुआ। तेईसवीं कारिका में बता चुके हैं कि 'बुद्धि तत्त्व' ज्ञान का अधिकरण है। सांख्यशास्त्र में सर्ग, सृष्टि आदि शब्द 'परिणाम' के वाचक हैं यहां परिणामात्मिका सृष्टि स्वीकृत हुई है। पूर्वोक्त प्रत्ययसर्ग चार प्रकार का है—विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि एवं सिद्धि। संशयात्मक ज्ञान को विपर्यय कहते हैं[1]। दूर से किसी स्थूल पदार्थ को देखने पर 'यह स्थाणु है या पुरुष है' इस प्रकार का जो उभयकोटिक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'संशय' कहते हैं। समीप जाकर स्थाणु को सम्यक् रूप से देख लेने पर भी संशय की निवृत्ति न हो पाना 'अशक्ति' है। संशय-निवारण की सामर्थ्य (शक्ति) रहने पर भी 'पुरोदृश्यमान पदार्थ के विषय में जानकारी प्राप्त करने से मुझे क्या लाभ ?' इस प्रकार की उपेक्षावृत्ति को 'तुष्टि' कहते हैं। स्थाणु पर पक्षी या लतादि की स्थिति देखकर स्थाणु में हुए पुरुषविषयक संशय के निवारण से जो आनन्दानुभूति होती है, उसे 'सिद्धि' कहते हैं।

उक्त चार प्रकार का प्रत्ययसर्ग अवान्तरभेद के साथ पचास प्रकार का हो

१. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्—(यो० सू० १।८)

जाता है। इस भेद का मूलहेतु सत्त्वादि गुणों की विमर्द्य-विमर्दकभावापन्न अवस्था है ॥ ४६ ॥

[विपर्ययादि चार के पचास अवान्तरभेद]

पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात् ।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—विपर्ययभेदाः पञ्च भवन्ति, करणवैकल्यात् अशक्तिः च अष्टाविंशतिभेदा [भवति], तुष्टिः नवधा [भवति] सिद्धिः अष्टधा [भवति] ॥ ४७ ॥

कारिकार्थः—'विपर्यय' के पांच भेद होते हैं। करणों के दोष के कारण 'अशक्ति' के अट्ठाईस भेद होते हैं। 'तुष्टि' नौ प्रकार की होती है तथा 'सिद्धि' आठ प्रकार की होती है ॥ ४७ ॥

भाष्यम्—तथा क्वापि सत्त्वमुत्कटं भवति, रजस्तमसी उदासीने। क्वापि रजः, क्वापि तम इति। भेदाः कथ्यन्ते—पञ्च विपर्ययभेदाः। ते यथा—तमो, मोहो, महामोहः, तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति। एषां भेदानां नानात्वं वक्ष्यतेऽनन्तरमेवेति अशक्तेस्त्वष्टाविंशतिभेदा भवन्ति, करणवैकल्यात्। तानपि वक्ष्यामः। ऊर्ध्वस्रोतसि राजसानि ज्ञानानि। तथा तुष्टिर्नवधाऽऽष्टविधा सिद्धिः। सात्त्विकानि ज्ञानानि तत्रैवोर्ध्वस्रोतसि ॥ ४७ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[गत कारिका में विपर्ययादि चार के पचास अवान्तर भेद सामूहिक रूप से कहे गये। प्रस्तुत कारिका में किसके कितने अवान्तरभेद हैं, इसका संकेत मात्र किया जा रहा है]

तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र के भेद से 'विपर्यय' पांच प्रकार का है[1]। करणों की असमर्थता के आधार पर 'अशक्ति' के अट्ठाईस भेद होते हैं। ये ऊर्ध्वस्रोताओं के राजसज्ञान हैं। 'तुष्टि'[2] के नौ तथा

---

१. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः—(यो० सू० २।३)

२. तुष्टिः अधिगतार्थादन्यत्र तुच्छत्वबुद्धिः। तुष्टिः तोषः यथा मनुना उक्तं—'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदामाचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ (मनु० २।६)

तुष्टिः शक्तिविशेषः। यथा, देवीभागवते—

तुष्टिः पुष्टिः क्षमा लज्जा जृम्भा तन्द्रा च शक्तयः।
संस्थिताः सर्वतः पार्श्वे महादेव्याः पृथक्-पृथक् ॥
(देवी० भा० १।१५।६१)

'सिद्धि'[1] के आठ भेद हैं। ये ऊर्ध्वस्रोताओं के सात्त्विकज्ञान हैं। विपर्ययादि के कथित प्रभेदों को स्वयं कारिकाकार आगे स्पष्ट करेंगे ॥ ४७ ॥

[पांच प्रकार के विपर्यय के बासठ अवान्तरभेद]

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः ।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥४८॥

अन्वयः—तमसः मोहस्य च अष्टविधो भेदः, महामोहः दशविधः, तामिस्रः तथा अन्धतामिस्रः अष्टादशधा [भवति] ॥ ४९ ॥

कारिकार्थः—'तम' और 'मोह' में प्रत्येक के आठ-आठ भेद 'महामोह' के दस भेद तथा 'तामिस्र' एवं 'अन्धतामिस्र' के अठारह-अठारह भेद होते हैं ॥ ४८ ॥

भाष्यम्—एतत् क्रमेणैव वक्ष्यते। तत्र विपर्ययभेदा उच्यन्ते—तमसस्तावदष्टधा भेदः। प्रलयोऽज्ञानाद्विभज्यते, सोऽष्टासु प्रकृतिषु लीयते, प्रधानबुद्ध्यहङ्कारपञ्चतन्मात्राख्यासु तत्र लीनमात्मानं मन्यते—'मुक्तोऽह'मिति। तमोभेद एषः। अष्टविधस्य मोहस्य भेदो अष्टविध एवेत्यर्थः। तत्राऽष्टगुणमणिमाद्यैश्वर्यं, तत्र सक्तादिन्द्रादयो देवा न मोक्षं प्राप्नुवन्ति, पुनश्च तत्क्षये संसरत्येषोऽष्टविधो 'मोह' इति दशविधो महामोहः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा देवानामेते पञ्च विषयाः सुखलक्षणाः, मानुषाणामप्येते एव शब्दादयः पञ्च विषयाः एवमेतेषु दशसु 'महामोह' इति। तामिस्रोऽष्टादशधा। अष्टविधमैश्वर्यं, दृष्टानुश्रविका दश, एतेषामष्टादशानां सम्पदमनुनन्दन्ति, विपदं नानुमोदन्ते। एषोऽष्टादश—विधो विकल्पस्तामिस्रः। यथा तामिस्रोऽष्टगुणमैश्वर्यं दृष्टानुश्रविका दश विषयास्तथाऽन्धता-

---

१. सिद्धि योगविशेषः।

'अणिमा महिमा चैव लघिमा प्राप्तिरेव च।
प्राकाम्यञ्च तथेशित्वं वशित्वं च तथापरम् ॥
यत्र कामावसायित्वं गुणानेतानथैश्वरान्। (मा० पु०)

ब्रह्मवैवर्त्ते अष्टादशसिद्धिनामानि, यथा—

'अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा।
ईशित्वञ्च वशित्वञ्च सर्वकामावसायिता ॥
सर्वज्ञदूरश्रवणं परकायप्रवेशनम्।
वाक्सिद्धिः कल्पवृक्षत्वं स्रष्टुं संहर्तुमीदृशा।
अमरत्वञ्च सर्वाङ्गं सिद्धयोऽष्टादश स्मृताः ॥ (ब्रह्मवैवर्त्त)

मिस्रोऽप्यष्टादशभेद एव। किन्तु विषयसम्पत्तौ सम्भोगकाले य एव म्रियतेऽष्टगुणैश्वर्याद्वा भ्रश्यते, ततस्तस्य महद्दुःखमुत्पद्यते, सोऽन्धतामिस्र इति। एष विपर्ययभेदास्तमःप्रभृतयः पञ्च प्रत्येकं भिद्यमाना द्विषष्टिभेदाः संवृत्ता इति ॥ ४८ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[सम्प्रति, गत कारिका में विपर्ययादि चार के गिनाये गये भेदों के अवान्तरभेदों का प्रतिपादन प्रारम्भ होता है। उसमें भी 'विपर्यय' का सर्वप्रथम 'स्थान' होने से उसी के बासठ प्रभेद बतलाये जा रहे हैं]

'तम' अविद्या का पर्याय है। अनात्मस्वरूप (जडरूप) प्रकृति, महत्, अहंकार एवं पञ्चतन्मात्राओं में आत्मत्वबुद्धि होना 'तम' है[१]। तम के आठ विषय होने से तम भी आठ प्रकार का कहा गया है। अनात्मपदार्थों में आत्मा का दर्शन करने वाले तत् ध्येय तत्त्व में लय होने को ही मोक्ष समझते हैं। इस प्रकार जिसमें 'प्रकृति' आदि के स्वरूप तथा मोक्ष, लय आदि पदों की अज्ञानमूलक व्याख्या होती हैं, उसे 'तम' कहते हैं। 'विपर्यय' के दूसरे रूप 'मोह' की प्रभेद संख्या भी तम के जितनी (आठ) हैं। अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व एवं यत्रकामावसायित्व संज्ञक आठ ऐश्वर्य हैं। तेईसवीं कारिका में इनका स्वरूप बताया जा चुका है। अणिमादि ऐश्वर्यों को नित्य एवं शाश्वत मानकर उनकी उपलब्धि से आत्मत्वलाभ—'वयं अमृताः स्मः'—का आनन्द लेने वाले जो साधक अपने को कृतकृत्य समझते हैं, वे मोहग्रस्त कहे जाते हैं[२]। इनकी ऐश्वर्योपलब्धि मोक्षप्रदायिनी नहीं होती है, अपितु संसार का हेतु होती है। इस प्रकार अष्टैश्वर्यविषयक 'मोह' आठ प्रकार का है। श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियों के शब्दादि पांच विषय दिव्य तथा अदिव्य के भेद से दस प्रकार के हैं। देवताओं द्वारा दिव्यविषय ग्रहण किये जाते हैं तथा अदिव्यविषयों का ग्रहीता मनुष्य होता है। इन दिव्यादिव्य विषयों के प्रति अत्यन्त आसक्ति होना 'महामोह' है। इसका अपर पर्याय 'राग' है[३]। इस प्रकार शब्दादिविषयक 'महामोह' दस प्रकार का है। सुख प्रदान करने वाले आठ ऐश्वर्य तथा दस शब्दादि विषयों की प्राप्ति के बाधक तथा प्राप्त के नाशक तत्त्वों के प्रति जो द्वेषबुद्धि होती है[४], उसे 'तामिस्र' कहते हैं। इस प्रकार अठारह पदार्थों के संबन्ध

---

१. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या—(यो० सू० २।५)

२. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता (यो० सू० २।६)

३. सुखानुशयी रागः (यो० सू० २।७)

४. दुःखानुशयी द्वेषः (यो० सू० २।८)

में द्वेष होने से 'तामिस्र' के अठारह भेद कहे गये हैं। 'अन्धतामिस्र' भी अठारह प्रकार का है। इसका दूसरा नाम 'अभिनिवेश' है[1]। उपलब्ध शब्दादि भोग्य विषयों के नाश का जो भय बना रहता है, उसे 'अन्धतामिस्र' कहते हैं। इस प्रकार तम आदि के प्रभेदों को जोड़ने पर विपर्यय की बासठ संख्या पूर्ण हो जाती है ॥ ४८ ॥

[अशक्ति के अट्ठाईस अवान्तरभेद]

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम् ॥ ४९ ॥

अन्वयः—एकादश इन्द्रियवधाः बुद्धिवधैः सह अशक्तिः उद्दिष्टा, तुष्टिसिद्धीनां विपर्ययात् बुद्धेर्वधाः सप्तदश [भवन्ति] ॥ ४९ ॥

कारिकार्थः—ग्यारह इन्द्रियों की ग्यारह असमर्थताएं बुद्धि की असमर्थताओं के सहित 'अशक्ति' कही जाती हैं। तुष्टि एवं सिद्धियों की अनुपलब्धि से बुद्धि की सतरह असमर्थताएं (दोष) होती हैं ॥ ४९ ॥

भाष्यम्—अशक्तिभेदाः कथ्यन्ते—भवन्त्यशक्तेश्च करणवैकल्यादष्टाविंशतिभेदा' इत्युद्दिष्टम्। तत्रैकादशेन्द्रियवधाः बाधिर्यम्, अन्धता, प्रसुप्तिः, उपजिह्विका, घ्राणपाको, मूकता, कुणित्वं, खाञ्जर्यं, गुदावर्त्तः, क्लैब्य-मुन्माद इति। सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ये बुद्धिवधास्तैः सहाऽशक्तेरष्टाविंशतिभेदा भवन्ति। सप्तदश वधा बुद्धेः। सप्तदशवधास्ते तुष्टिभेद-सिद्धिभेदवैपरीत्येन। तुष्टिभेदा नव, सिद्धिभेदा अष्टौ, एतद्विपरीतैः सह एकादश (इन्द्रिय) वधा, एवमष्टाविंशतिविकल्पा अशक्तिरिति ॥ ४९ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[अब क्रम प्राप्त 'अशक्ति' के अवान्तरभेदों का प्रतिपादन किया जा रहा है]

'अशक्ति' पद का अर्थ असामर्थ्य है। चक्षुरादि इन्द्रियों में रूपादि विषयों को ग्रहण करने की जो सामर्थ्य विद्यमान है, उसका किसी अदृष्टवशात् नाश होना अर्थात् कुण्ठित होना 'अशक्ति' है। एकादश इन्द्रियों के निम्नाङ्कित वध हैं— श्रोत्रेन्द्रिय की श्रवणशक्ति का नाश बाधिर्य, चक्षुरिन्द्रिय की दर्शनशक्ति का नाश अन्धता, त्वगिन्द्रिय की स्पर्शशक्ति का नाश प्रसुप्ति (कुण्ठिता), रसनेन्द्रिय की आस्वादनशक्ति का नाश उपजिह्विका, नासिकेन्द्रिय की घ्राणशक्ति का नाश

१. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः (यो० सू० ९)

घ्राणपाक, वागिन्द्रिय की वचनशक्ति का नाश मूकता, हस्तेन्द्रिय की आदानशक्ति का नाश कुणित्व (कौण्य), पादेन्द्रिय की विहरणशक्ति का नाश खाञ्जय, पाय्विन्द्रिय की उत्सर्गशक्ति का नाश गुदावर्त, उपस्थेन्द्रिय की आनन्दशक्ति का नाश क्लैब्य तथा मानसिक शक्ति का नाश उन्माद कहा जाता है। इस प्रकार इन्द्रिय-संवन्धी ग्यारह दोषों तथा आठ प्रकार की सिद्धियों एवं नौ प्रकार की तुष्टियों के प्राप्त न होने के कारण वुद्धि सम्वन्धी सत्रह दोषों को मिलाने से अट्ठाईस 'भेद' वाली 'अशक्ति' सिद्ध होती है। कारिकागत 'वुद्धिवध' शब्द से सिद्धि आदि की प्राप्ति में बुद्धि के असामर्थ्य का ग्रहण होता है। 'वुद्धिवध' के सन्दर्भ में कथित तुष्टि एवं सिद्धि का स्वरूप आगे बताया जायगा। इस प्रकार सांख्यशास्त्राभिमत अट्ठाईस अशक्तियों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है ॥ ४९ ॥

[नौ तुष्टियां]

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।
वाह्या विषयोपरमात् पञ्च च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥५०॥

अन्वयः—प्रकृति-उपादान-काल-भाग्याख्याः चतस्रः आध्यात्मिक्यः तुष्टयः [भवन्ति], [तथा] विषयोपरमात् पञ्च बाह्याः तुष्टयः, [एवं मिलित्वा] नव तुष्टयः अभिमताः ॥ ५० ॥

कारिकार्थः—प्रकृति, उपादान, काल एवं भाग्य नाम की चार आध्यात्मिक तुष्टियां हैं। [तथा] विषयों में उपरति होने से पांच प्रकार की बाह्य तुष्टियां हैं। इस प्रकार सब मिलाकर नौ तुष्टियां (सांख्याचार्यों को) अभिमत हैं ॥ ५० ॥

भाष्यम्—विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनामेवं भेदक्रमो द्रष्टव्यः। तत्र तुष्टिर्नवधा कथ्यते—आध्यात्मिक्यश्चतस्रस्तुष्टयः। अध्यात्मनि भवा आध्यात्मिक्यः। ताश्च प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः। तत्र प्रकृत्याख्या यथा कश्चित् प्रकृतिं वेत्ति, तस्याः सगुणनिर्गुणत्वं च, तेन तत्त्वं = तत्कार्यं विज्ञायैव केवलं तुष्टस्तस्य नास्ति मोक्षः। एषा प्रकृत्याख्या। उपादानाख्या यथा—कश्चिदविज्ञायैव तत्त्वान्युपादानग्रहणं करोति—'त्रिदण्डकमण्डलुविविदिषाभ्यो मोक्ष'—इति, तस्यापि नास्ति मोक्ष इति, एषा उपादानाख्या। तथा कालाख्या—'कालेन मोक्षो भविष्यतीति' किं तत्त्वाभ्यासेनेत्येषा कालाख्या तुष्टिस्तस्य नास्ति मोक्ष इति। तथा भाग्याख्या-'भाग्येनैव मोक्षो भविष्यती'ति भाग्याख्या। चतुर्धा तुष्टिरिति। बाह्या विषयोपरमाच्च पञ्च। बाह्यास्तुष्टयः पञ्च विषयोपरमात्। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेभ्य उपरतोऽर्जनरक्षण-क्षय-सङ्ग-हिंसा-दर्शनात्। (धन) वृद्धिनिमित्तं पाशु-

पाल्यवाणिज्यप्रतिग्रहसेवाः कार्याः, एतदर्जनं दुःखम्। अर्जितानां रक्षणे दुःखम्। उपभोगात्क्षीयत इति क्षयदुःखम्। तथा विषयोपभोगसङ्गे कृते नास्तीन्द्रियाणामुपशम इति सङ्गदोषः। तथा न अनुपहत्य भूतान्युपभोग इत्येष हिंसादोषः। एवमर्जनादिदोषदर्शनात् पञ्चविषयोपरमात् पञ्च तुष्टयः। एवमाध्यात्मिकी—बाह्यभेदान्नव तुष्टयः। तासां नामानि शास्त्रान्तरे प्रोक्तानि—'अम्भः, सलिलं, मेघो, वृष्टिः सुतमः, पारं, सुनेत्रं, नारीकम्, अनुत्तमाम्भसिकम्' इति। आसां तुष्टीनां विपरीता आशक्तिभेदाद् बुद्धिवधा भवन्ति। तद्यथा—अनम्भोऽसलिलममेघ इत्यादिवैपरीत्याद् बुद्धिवधा इति ॥ ५० ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[अव्यवहित पूर्व कारिका में सांख्याचार्यों द्वारा मान्यता प्राप्त नौ तुष्टियों का संकेत मात्र मिलता है। प्रस्तुत कारिका में आचार्य ईश्वरकृष्ण तुष्टियों के संवन्ध में विशेष विचार करते हैं]

सर्वप्रथम इन तुष्टियों को दो भागों में बांट सकते हैं—'आध्यात्मिक तुष्टि' तथा 'बाह्यतुष्टि'। आध्यात्मिक तुष्टियां चार तथा बाह्य तुष्टियां पांच हैं। आत्मा को उद्देश्य कर प्रवृत्त होने वाली तुष्टियां 'आध्यात्मिक' कही जाती हैं तथा पञ्च बाह्य पदार्थों के प्रति जायमान वैराग्य से संवन्धित (उससे उत्पन्न होने वाली) तुष्टियां 'बाह्य' कहलाती हैं। 'तुष्टि' पद का अर्थ 'सन्तोष' है।[1] यद्यपि 'सन्तोषः परमो धर्मः' तथा 'सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः'[2] योगसूत्र में 'संतोष' की महिमा गाई गई है तथा जीवन में उसे उतारने का उपदेश भी दिया गया है तथापि इस सन्दर्भ में आया तुष्ट्यर्थक 'सन्तोष' उपादेय नहीं है। यह व्यक्ति को कार्य-क्षेत्र में उतरने नहीं देता है, उसे निष्कर्मण्य बनाता है। मुमुक्षुओं में इस प्रकार की निष्कर्मण्यता का अवतरण अत्यन्त घातक सिद्ध होता है।

आध्यात्मिक तुष्टियां:—प्रकृति के सगुण, निर्गुण आदि सर्वाङ्गीण रूप को आप्तोपदेश द्वारा जानकर भी जो व्यक्ति प्रकृति के महदादि कार्यों में लिप्त रहकर सन्तोष का अनुभव करता है, वह कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है। आचार्य माठरवृत्तिकार ने 'प्रकृत्याख्यतुष्टि' के उपर्युक्त स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया है—जो व्यक्ति प्रकृतिमात्र को सामान्यतः जानता है, उसके सगुणत्व = निर्गुणत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, चेतनत्व-अचेतनत्व एवं सर्वगतत्व-एकदेशित्व आदि

१. सन्तोषस्य महिमा—
सन्तोषामृततृप्तानां यत् सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥ (हितो०)

२. यो० सू० २।४२।

धर्मों को नहीं जानता है और प्रकृति के अस्तित्व मात्र का ज्ञान होने से 'अहं जानामि' इस प्रकार का तुष्टि रूप अभिमान करता है, उसे 'प्रकृति-तुष्टि' कहते हैं[1]। सांख्यतत्त्वकौमुदी में आचार्य वाचस्पति मिश्र ने प्रकृति संज्ञक तुष्टि का स्वरुप और भी अधिक स्पष्ट किया है।[2] तत्त्वों का अभिज्ञ जो व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति के लिये त्रिदण्ड, कमण्डलु, आदि उपादानों को ग्रहण करके ही सन्तुष्ट हो जाता है, उसकी 'उपादान तुष्टि' कही जाती है। 'काल' को ही मोक्षप्राप्ति का मूल हेतु समझकर जो व्यक्ति समय आने पर मुझे स्वतः मोक्ष प्राप्त हो जायगा, इस भ्रान्ति से तत्त्वाभ्यास में व्यर्थता के दर्शन करता है, उसकी 'काल-तुष्टि' कही जाती है। जो भाग्य के आगे काल को भी नगण्य समझकर मोक्ष को 'भाग्याधीन' कहते हैं, उनकी 'भाग्य-तुष्टि' कही जाती है। इस प्रकार चार आध्यात्मिक तुष्टियां हुईं।

बाह्य तुष्टियां:—बाह्य पदार्थों में अर्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग तथा हिंसा आदि दोषों को देखकर उनसे (पदार्थों से) पराङ्मुख (विरक्त) हुए व्यक्ति की पांच बाह्य तुष्टियां कही गई हैं। धन के उपार्जन के लिये किये जाने वाले पशुपालन, वाणिज्य, प्रतिग्रह तथा सेवा आदि व्यापार दुःख उत्पन्न करते हैं—यह विषयगत अर्जनदुःख व्यक्ति में वैराग्य जागृत करता है। अर्जित धन की सुरक्षा के लिये स्वभावतः बनी रहने वाली चिन्ता—कहीं चोर न चुरा ले—व्यक्ति में वैराग्य उत्पन्न करती है। यह विषयगत अर्जनदुःख' है। रक्षित धन का उपभोग द्वारा क्षय होने पर जो दुःखानुभूति होती है, उसे विषयगत 'क्षयदोष' कहते हैं। विषयों का उपभोग करने से तृष्णा दूर नहीं होती है, वह घृताग्नि के समान बढ़ती जाती है। तृष्णावृद्धि दुःख का मूल है। यही विषयगत 'सङ्गदोष' है। स्वार्थसिद्धि में परापकार की सम्भावना रहने से विषयोपभोग को 'हिंसादि-दोष' से भी युक्त माना जाता है। इस प्रकार विषयगत दोषदर्शन से विषयों के प्रति जो वैराग्यभाव जागृत होता है, उसे ही पांच प्रकार की बाह्य तुष्टियां कहते हैं।

---

१. यथा कश्चित्प्रकृतिमात्रं वेत्ति न तु जानीते सगुणागुणत्वनित्यानित्यत्वचेतनाचेतनत्व-सर्वगतत्वधर्मानस्याः केवलं प्रकृत्यस्तित्वमात्रज्ञानेन अहं जानामीति तुष्टः प्रव्रजितस्तस्य नास्ति मोक्षः। एषा प्रकृतितुष्टिः—(मा० वृ० पृ० ६६)।

२. तत्र प्रकृत्याख्या तुष्टिर्यथा कस्यचिदुपदेशे—'विवेकसाक्षात्कारो हि प्रकृतिपरिणाम-भेदस्तञ्च प्रकृतिरेव करोतीति कृतन्तद्ध्यानाभ्यासेन, तस्मादेवमेवास्स्व वत्स',—इति सेयमुपदेष्टव्यस्य शिष्यस्य तुष्टिः, प्रकृतौ, सा तुष्टिः प्रकृत्याख्या 'अम्भ' उच्यते—(सां० त० कौ० पृ० २५३)।

शास्त्रान्तर में ऊपर प्रतिपादित तुष्टियां निम्नाङ्कित नाम से अभिहित हुई हैं—अम्भ, सलिल, मेघ, वृष्टि, सुतम, पार, सुनेत्र, नारीक, अनुत्तम तथा आम्भसिक। इन तुष्टियों के विपरीतभाव को 'बुद्धिवध' शब्द से कहा गया है ॥ ५० ॥

[आठ सिद्धियां]

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—ऊहः, शब्दः, अध्ययनं, दुःखविघाताः त्रयः, सुहृत्प्राप्तिः, दानं च [इति] अष्टौ सिद्धयः सन्ति। पूर्वः त्रिविधः (विपर्ययाऽशक्तितुष्टिरूपः बुद्धिवधः) सिद्धेः अङ्कुशः [अस्ति] ॥ ५१ ॥

कारिकार्थः—तर्कजनित आत्मज्ञान—'ऊहसिद्धि', पदजनित आत्मज्ञान—'शब्दसिद्धि', शास्त्रानुसंधानपुरस्सर होने वाली आत्मविषयक—'अध्ययनसिद्धि' दुःखनाश से उत्पन्न होने वाली 'तीन सिद्धियां', आत्मज्ञान का उपदेश देने में समर्थ मित्र का साहचर्य—'सुहृत्प्राप्ति' संज्ञक सिद्धि तथा 'दानसिद्धि'—इस प्रकार आठ सिद्धियां होती हैं। बुद्धिवध के प्रथम तीन भेद 'विपर्यय' 'अशक्ति' तथा 'तुष्टि' चतुर्थवध 'सिद्धि' के लिये अङ्कुशस्वरूप (बाधारूप) हैं ॥ ५१ ॥

भाष्यम्—सिद्धिरुच्यते। ऊहो यथा कश्चिन्नित्यसमूहते—'किमिह सत्यं, किं परं, किं नैःश्रेयसं, किं कृत्वा कृतार्थः स्याम्' इति चिन्तयतो ज्ञानमुत्पद्यते, 'प्रधानादन्य एव पुरुषः, इतोऽन्या बुद्धिरन्योऽहङ्कारोऽन्यानि तन्मात्राणीन्द्रियाणि, पञ्च महाभूतानी'त्येवं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते, येन मोक्षो भवति। एषा 'ऊहा'ख्या प्रथमा सिद्धिः। तथा—शब्दज्ञानात् प्रधानपुरुषबुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियपञ्चमहाभूतविषयं ज्ञानं भवति, तथा मोक्ष इत्येषा शब्दाख्या सिद्धिः। अध्ययनाद् = वेदादिशास्त्राध्ययनात् पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं प्राप्य, तेन मोक्षं यातीत्येषा तृतीया सिद्धिः। दुःखविघातत्रयम्। आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकदुःखत्रयविघाताय गुरुं समुपगम्य तत उपदेशान्मोक्षं याति, एषा चतुर्थी सिद्धिः। एषैव दुःखत्रयभेदात्त्रिधा कल्पनीयेति षट् सिद्धयः। तथा सुहृत्प्राप्तिः; यथा कश्चित् सुहृज्ज्ञानमधिगम्य मोक्षं गच्छति एषा सप्तमी सिद्धिः। दानं यथा—कश्चिद्भगवतां प्रत्याश्रयौषधित्रिदण्डकुण्डिकादीनां ग्रासाच्छादनादीनां च दानेनोपकृत्य तेभ्यो ज्ञानमवाप्य मोक्षं याति। एषाष्टमी सिद्धिः। आसामष्टानां सिद्धीनां शास्त्रान्तरे संज्ञाः कृताः—तारं, सुतारं, तारतारं, प्रमोदं, प्रमुदितं, प्रमोदमानं, रम्यकं, सदाप्रमुदितम् इति।

आसां विपर्ययाद् बुद्धेर्वधा ये विपरीतास्ते अशक्तौ निक्षिप्ताः, यथाऽतारमसुतारतारमित्यादि द्रष्टव्यम् । अशक्तिभेदा अष्टाविंशतिरुक्तास्ते सह बुद्धिवधैरेकादशेन्द्रियवधा इति तत्र तुष्टिविपर्यया नव, सिद्धानां विपर्यया अष्टौ, एवमेते सप्तदश बुद्धिवधाः, एतैः सहेन्द्रियवधा अष्टाविंशतिरशक्तिभेदाः पश्चात् कथिता इति विपर्ययाऽशक्तितुष्टिसिद्धीनामेवोद्देशो, निर्देशश्च कृत इति । किञ्चान्यत् ? सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः । सिद्धेः पूर्वा या विपर्ययाऽशक्ति तुष्टस्ता एव सिद्धेरङ्कुशस्तद्भेदादेव त्रिविधः । यथा—हस्ती गृहीताङ्कुशेन वशो भवति, एवं विपर्ययाऽशक्तितुष्टिभिर्गृहीतो लोकोऽज्ञानमाप्नोति, तस्मादेताः परित्यज्य सिद्धिः सेव्या, सिद्धेस्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते, तस्मान्मोक्ष इति ॥ ५१ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[बुद्धि के तीन वधों का वर्णन करने के पश्चात् क्रमप्राप्त चतुर्थवध (सिद्धि) पर व्याख्यान प्रस्तुत हो रहा है]

ऊहसिद्धिः—'ऊह' पद का अर्थ तर्क है । जिज्ञासा की भित्ति पर 'तर्क' का उदय होता है । इस जिज्ञासा मिश्रित तर्क ने ही दर्शनशास्त्र को जन्म दिया है । इस संसार में क्या सत्य है ? क्या असत्य है ? मोक्ष क्या है ? किसे करके कृतकृत्य हो सकता हूं ?' इस प्रकार का सतत ध्यान (चिन्तन) करते रहने से ऋषि महर्षियों को अन्ततोगन्वा प्रधान (प्रकृति), बुद्धि, अहंकार, तन्मात्राएं, इन्द्रियां तथा पञ्चमहाभूत से भिन्न पुरुष के पृथक् स्वरूप का स्फुरण हुआ तथा सांख्यीय तत्त्वों के अपरोक्षात्मकज्ञान में उन्हें मोक्ष की साधनता दिखाई पड़ी । इस प्रकार आत्मविषयक ज्ञान के प्रति जो नैसर्गिक विचारसामर्थ्य है, उसे 'ऊह' संज्ञक सिद्धि कहते हैं ।

शब्दसिद्धिः—'शब्दसिद्धि' का तात्पर्य शब्दार्थ सिद्धि से है । अर्थात् पदज्ञान से उत्पन्न अर्थावबोध रूप सामर्थ्यविशेष को 'शब्दसिद्धि' कहते हैं । सांख्यशास्त्र का पाठ करते हुए व्यक्ति द्वारा सांख्य की शब्दावली को सुनते ही जिसे सांख्य के पद-पदार्थ स्फुरित होने लगते हैं और जड़-पदार्थों से अपने को भिन्न जानकर जो मोक्षोपयोगी सांख्यमार्ग का अनुसरण करता है; उसे 'शब्दसिद्धि' प्राप्त हुई है, ऐसा माना जाता है । इस प्रकार शब्द से उत्पन्न होने वाले आत्मज्ञान को 'शब्दसिद्धि कहते हैं ।

अध्ययनसिद्धिः—गुरुमुख से वेदादि शास्त्रों के अध्ययन द्वारा उत्पन्न सामर्थ्य विशेष से सांख्यसम्मत पच्चीस तत्त्वों के ज्ञानपूर्वक जो मोक्ष प्राप्त होता है, वह तीसरी अध्ययनसिद्धि है । इस प्रकार अध्ययन से होने वाला आत्मज्ञान 'अध्ययनसिद्धि' के अन्तर्गत है ।

त्रिविध दुःखों के नाश से तीन प्रकार की सिद्धियां:—

पहली कारिका में 'दुःखवाद' पर विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। 'दुःख' से व्यक्ति की इन्द्रियशक्ति क्षीण हो जाया करती है। इसके विपरीत सुखी व्यक्ति के बुद्धयादि करणों में ऐसी सजीवता छाई रहती है कि वह मोक्षोपयोगी दुरूह मार्ग पर चलने के लिये अपने को समर्थ पाता है। अतः आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक दुःखों के नाश के लिये गुरु के श्रीचरणों में बैठकर जो गुरूपदेश द्वारा मोक्षप्राप्ति के विपुल सामर्थ्य से युक्त होता है, उसे चतुर्थ 'दुःखविघातसिद्धि' प्राप्त होती है। 'दुःखभावत्व' की दृष्टि से 'सिद्धि' का एकत्व तथा दुःख की त्रिविधता की दृष्टि से 'सिद्धि का 'त्रित्व' समझना चाहिये। अर्थात् तीन प्रकार के दुःखों का नाश होने से तीन प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

सुहृत्प्राप्तिः—मोक्षोपयोगी ज्ञान का उपदेश देने में समर्थ ज्ञानी मित्र की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। जिसे सहज सुलभ हो जाय उसे 'सुहृत्सिद्धि' से सम्पन्न माना जाता है। इस सिद्धि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि साधक युक्तियों के द्वारा स्वयं परीक्षा किये गये सिद्धान्त पर तब तक विश्वास नहीं करता जब तक अपने सहाध्यायियों के साथ उस परीक्षित अर्थ पर विचार-विमर्श द्वारा मिलान नहीं कर लेता। इस प्रकार सुहृदों द्वारा स्वनिर्णीत सिद्धान्त पर समर्थन प्राप्त होना 'सुहृत्प्राप्ति' है।[1]

दानसिद्धिः—ऋतम्भरा-प्रज्ञा के धनी संन्यासियों को आश्रय, औषधि, दण्ड, कमण्डलु आदि से तृप्त करके उसके प्रतिदान में जो मोक्षदायक ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसे 'दानसिद्धि' कहते हैं।

उपरिवर्णित आठ सिद्धियां योगशास्त्रमें क्रमशः तार, सुतार, तारतार, प्रमोद, प्रमुदित, प्रमोदमान, रम्यक तथा सदामुदित नाम से परिभाषित हैं। आचार्य वाचस्पतिमिश्र ने सिद्धियों में कार्यकारणसम्बन्ध की भी स्थापना की है।[2]

सिद्धियों के बाधक तत्त्वः—ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि सिद्धियां ज्ञानप्रधान हैं। ज्ञान का विरोधो अज्ञान होता है। अतः अज्ञानप्रधान 'विपर्यय', 'अशक्ति' तथा 'तुष्टि' ज्ञानप्रधान 'सिद्धि' के लिये बाधास्वरूप हैं। जिस प्रकार

---

१. न्यायेन स्वयम्परीक्षितमप्यर्थं न श्रद्धत्ते न यावद्गुरुशिष्यसब्रह्मचारिभिस्सह संवादयते। अतः सुहृदां गुरुशिष्यसब्रह्मचारिणां संवादकानां प्राप्तिः सुहृत्प्राप्तिः— (सां० त० कौ० पृ० २६२)।

२. तत्राद्याऽध्ययनलक्षणा सिद्धिर्हेतुरेव। मुख्यास्तु सिद्धयो हेतुमत्य एव, मध्यमास्तु हेतुहेतुमत्यः—(सां० त० कौ० पृ० २६०)।

अङ्कुश के द्वारा हाथी वश में किया जाता है उसी प्रकार विपर्यय, अशक्ति एवं तुष्टि से गृहीत लोक अज्ञानावृत्त होता है। अतः अनुपादेय विपर्ययादि के परित्याग एवं सिद्धि के ग्रहण के लिये मुमुक्षुओं को प्रयत्नशील रहना चाहिये। 'सिद्धि' तत्त्वज्ञान का और 'तत्त्वज्ञान' मोक्ष का द्वार उद्घाटित करता है।

बुद्धि के असिद्धि रूप वध (अशक्ति) का संकेतः—उन्तालीसवीं कारिका में कथित बुद्धि-सम्बन्धी सत्रह अशक्तियों में आठ अशक्तियां सिद्धि की अभाव रूप हैं। उनके नाम अतार, असुतार, अतारतार, अप्रमोद, अप्रमुदित, अप्रमोदमान, अरम्यक तथा असदाप्रमुदित हैं ॥ ५१ ॥

[द्विविध सृष्टि की आवश्यकता]

न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः ।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—भावैः विना लिङ्गं न [भवति] [तथैव] लिङ्गेन विना भावनिर्वृत्तिः न [भवति]। तस्मात् भावाख्यो लिङ्गाख्यो द्विविधः सर्गः प्रवर्तते ॥ ५२ ॥

कारिकार्थः—(जिस प्रकार) धर्मादि आठ भावों से युक्त बुद्धिसर्ग के बिना तन्मात्राओं से होने वाले लिङ्गसर्ग (भौतिकसर्ग) की उत्पत्ति नहीं हो सकती है उसी प्रकार भोग्य शब्दादि तथा भोगाधिष्ठान शरीर रूप लिङ्गशरीर के बिना बुद्धिसर्ग की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इसीलिये (सांख्यशास्त्र के अनुसार) भावाख्य एवं लिङ्गाख्य दोनों प्रकार का सर्ग प्रवृत्त होता है ॥ ५२ ॥

भाष्यम्—अथ यदुक्तं 'भावैरधिवासितं लिङ्गं' तत्र भावा धर्मादयोऽष्टौ-युक्ता बुद्धिपरिणामाः,—विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धिपरिणताः, स भावाख्यः-प्रत्ययसर्गो, लिङ्गश्च तन्मात्रसर्गश्चतुर्दशभूतपर्यन्त उक्तः, तत्रैकेनैव सर्गेण पुरुषार्थसिद्धौ किमुभयविधसर्गेणेत्यत आह—भावैः = प्रत्ययसर्गैर्विना लिङ्गं न = तन्मात्रसर्गो न, पूर्वपूर्वसंस्काराऽदृष्टाकारितत्वादुत्तरोत्तरदेहलम्भस्य । लिङ्गेन = तन्मात्रसर्गेण-च—विना भावनिर्वृत्तिर्न । स्थूलसूक्ष्मदेह-साध्यत्वाद्धर्मादेः, अनादित्वाच्च सर्गस्य बीजाङ्कुरवदन्योन्याश्रयो न दोषाय. तत्तज्जातीयापेक्षित्वेऽपि तत्तद्व्यक्तीनां परस्परानपेक्षित्वात् । तस्माद्भावाख्यो, लिङ्गाख्यो, लिङ्गाख्यश्च द्विविधः प्रवर्त्तते सर्ग इति ॥ ५२ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[सांख्यदार्शनिकों ने दो प्रकार का सर्ग स्वीकार किया है—'प्रत्ययसर्ग' तथा 'भूतसर्ग'। छयालीस से इक्यावनवीं कारिका

पर्यन्त 'प्रत्ययसर्ग' पर विचार किया गया है। द्वितीय सर्ग के विषय में कुछ कहने से पूर्व आचार्य ईश्वरकृष्ण सांख्यसम्मत उभयसर्गों की उपादेयता तथा एक के बिना दूसरे सर्ग की असम्भाव्यता को स्पष्ट कर देना चाहते हैं। इससे—'एक ही सर्ग से पुरुषार्थसिद्धि सम्भव होने से दोनों सर्गों को मानने की क्या आवश्यकता ?' यह शङ्का दूर हो जाती है]

'भावैः' पद का अर्थ 'धर्मादि आठ भावों से युक्त बुद्धितत्त्व है। बुद्धितत्त्व का धर्म, अधर्म आदि रूप से जो परिणाम (व्यापार) होता है, उसे ही यहां 'बुद्धिसर्ग' अर्थात् 'प्रत्ययसर्ग' कहा गया है। तन्मात्रसर्ग से स्थूलशरीर एवं सूक्ष्मशरीर वाली सृष्टि गृहीत है। बुद्धिसर्ग के बिना तन्मात्रसर्ग प्रवृत्त नहीं हो पाता है। उत्तरोत्तर स्थूल एवं सूक्ष्मशरीर की उत्पत्ति पूर्व शरीर के संस्कार रूप अदृष्ट के कारण होती है और संस्कार की उत्पत्ति बुद्धिव्यापार से होती है। अर्थात् बुद्धि द्वारा जिस प्रकार का कर्म किया जाता है उसी के अनुसार संस्कार बनता है। इसीलिये यदि 'बुद्धिसर्ग न माना जाय तो उसके कारण होने वाला 'तन्मात्रसर्ग' कैसे हो सकता है ? अतः 'तन्मात्रसर्ग' के लिये 'बुद्धिसर्ग' को मानना आवश्यक है। दूसरी तरफ 'बुद्धिसर्ग' की स्थिति के लिये 'तन्मात्रसर्ग' की आवश्यकता है। स्थूल, एवं सूक्ष्मशरीर रूप अधिष्ठान में अधिष्ठित होकर ही बुद्धि धर्मादि व्यापार करती है। अतः धर्मादि का साधन होने से स्थूल एवं सूक्ष्मदेह अर्थात् तन्मात्रसर्ग ग्राह्य है। इस प्रकार बुद्धिसर्ग एवं तन्मात्रसर्ग दोनों को एक दूसरे की अपेक्षा रहती है। यह अपेक्षा अन्योन्याश्रयदोष[1] से युक्त नहीं है। यह बीजाङ्कुरन्याय[2] की तरह अनादि होने से निर्दुष्ट तथा युक्तियुक्त है। इसलिये लिङ्गाख्य एवं भावाख्य दोनों प्रकार के सर्ग की प्रवृत्ति मानी गई है॥ ५२ ॥

[भौतिक सर्ग]

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुषकश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः॥ ५३॥

---

१. परस्परज्ञानसापेक्षज्ञानाश्रयोऽन्योन्याश्रयः। अयमितरेतराश्रयशब्देन सर्वदर्शनसंग्रहे अक्षपाददर्शने उक्तः—(सां० द० सं० पृ० २३९)।

२. बीजं विना नाङ्कुरो जायते, अङ्कुरं विना च न बीजोत्पत्तिरिति। एवं यत्र परस्परकार्यकारणभावस्तत्रायं न्यायः प्रवर्त्तते। तथा च बीजजातीयं प्रत्यङ्कुरजातीयम्, अङ्कुरजातीयञ्च प्रति बीजजातीयं कारणम्। अतः बीजाङ्कुरप्रवाहाऽनादितया च यद्बीजम्प्रति

अन्वयः—दैवः—[सर्गः] अष्टविकल्पो भवति, तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति, (अयमेव) समासतो भौतिकः सर्गः [अस्ति] ॥ ५३ ॥

कारिकार्थः—देवताओं की सृष्टि आठ प्रकार की होती है। पशुपक्षियों की सृष्टि पांच प्रकार की होती है तथा मनुष्यों की सृष्टि एक प्रकार की होती है। यही संक्षेप से भौतिकसृष्टि है ॥ ५३ ॥

भाष्यम्—किञ्चान्यत्—तत्र अष्टविकल्पो दैवः दैवमष्टप्रकारं—प्राजापत्यं, सौम्यम्, ऐन्द्रं, गान्धर्वं याक्षं, राक्षसं, पैशाचमिति। पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावराणि भूतान्येवं पञ्चविधस्तैरश्चः। मानुषयोनिरेकैव। इति चतुर्दश भूतानि ॥ ५३ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[प्रत्ययसर्ग के पश्चात् क्रमप्राप्त भौतिकसर्ग पर विचार किया जा रहा है। सर्वप्रथम भौतिक सृष्टि का विभाजन करते हैं]

पाञ्चभौतिक (पंचभूतविकारात्मक) सृष्टि के मुख्यतः तीन भेद हैं—दैवसृष्टि, तैर्यक् सृष्टि तथा मानुष सृष्टि। देवसृष्टि के अन्तर्गत ब्राह्म, प्राजापत्य, सौम्य, ऐन्द्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस तथा पैशाच ये आठ योनियां आती हैं। तिर्यग्योनि—पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप तथा स्थावर भेद से पांच प्रकार की है। मनुष्य सृष्टि एक ही प्रकार की है। इस प्रकार भौतिक सर्ग संक्षेप से चौदह प्रकार का है। शास्त्रान्तरों में चौरासी लाख योनियों का विस्तार पूर्वक वर्णन उपलब्ध है ॥ ५३ ॥

[गुणों की दृष्टि से भौतिक सर्ग]

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ ५४ ॥

अन्वयः— ऊर्ध्वं सत्त्वविशालः सर्गः, मूलतः तमोविशालः सर्गः, मध्ये रजोविशालः सर्गः [इति] ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः सर्गो भवति] ॥ ५४ ॥

कारिकार्थः—'ऊर्ध्व' अर्थात् 'देवसृष्टि' सत्त्वगुणप्रधान, 'मूल' अर्थात् 'तिर्यक् सृष्टि' तमोगुणप्रधान तथा 'मध्य' अर्थात् 'मनुष्ययोनि' रजोगुणप्रधान होती हैं। इस प्रकार ब्रह्मादि से स्तम्बपर्यन्त सृष्टि त्रिगुणात्मक है ॥ ५४ ॥

भाष्यम्—त्रिष्वपि लोकेषु गुणत्रयमस्ति, तत्र कस्मिन् किमधिकमित्युच्यते—ऊर्ध्वमिति। अष्टसु देवस्थानेषु सत्त्वविशालः = सत्त्वविस्तारः, सत्त्वोत्कर्ष इति।

यदङ्कुरस्य कारणत्वं तदङ्कुरम्प्रति तद्बीजस्य न कारणत्वमतो नान्योन्याश्रयः। एष च प्रमाणकत्वाद्गृह्यते, यत्र च न प्रमाणकत्वं तत्र नाऽनादिनान्यस्येति सिद्धान्तात् सूचितञ्च।

तत्रापि रजस्तमसी स्तः। तमोविशालश्च मूलतः। पश्वादिषु स्थावरान्तेषु सर्वः सर्गस्तमसाधिक्येन व्याप्तः। तत्रापि सत्त्वरजसी स्तः। मध्ये=मानुषे रज उत्कटम्। तत्रापि सत्त्वतमसी विद्येते। तस्माद् दुःखप्राया मनुष्याः। एवं ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्तः। ब्रह्मादिस्थावरान्त इत्यर्थः। एवम्—अभौतिकः सर्गो=लिङ्गसर्गो, भावसर्गः। भूतसर्गः=देवमानुषतैर्यग्योना इति। एष प्रधानकृतः षोडशविधः॥ ५४॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[ब्रह्मादि आठ देवलोकों को 'ऊर्ध्वलोक' कहा जाता है क्योंकि अन्य दो भौतिक लोकों की अपेक्षा ये ऊपर की ओर हैं। इन आठ देवस्थानों में सत्त्वगुण का विस्तार है। अर्थात् देवसृष्टि सत्त्वगुण प्रधान है। यहां रजोगुण एवं तमोगुण का अप्राधान्य है। ये अप्रधान दो गुण सत्त्वगुण की सत्त्वमयी सृष्टि में प्रवृत्ति एवं नियमन करते हैं। 'तिर्यग्लोक' का स्थान सबसे नीचे है। इसीलिये कारिका में 'मूलतः' शब्द का प्रयोग हुआ है। पशु आदि से स्थावर पर्यन्त पांच प्रकार का तिर्यग्सर्ग तमोगुण से परिव्याप्त है। यहां सत्त्वगुण एवं रजोगुण की अत्यन्त न्यूनमात्रा है। 'मनुष्यलोक' देवलोक तथा तिर्यक् लोक के मध्य में है। इसके निर्माण में रजोगुण का प्रमुख हाथ है। अन्य दो गुण अप्रधान हैं। तत् तद् गुणों की प्रधानता के अनुसार ऊर्ध्वलोक के प्राणी सुखी, मध्यलोक के प्राणी दुःखी तथा अधोलोक के प्राणी मोहग्रस्त हैं। इस प्रकार गुणों की तरतमता की दृष्टि से भौतिक सर्ग पर विचार किया गया॥ ५४॥

[दुःख का अनुभविता]

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन॥ ५५॥

अन्वयः—तत्र चेतनः पुरुषः जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति लिङ्गस्य आविनिवृत्तेः तस्मात् स्वभावेन दुःखं भवति॥ ५५॥

कारिकार्थः—पूर्ववर्णित नानाविध योनियों में शरीराधिष्ठित चेतन 'पुरुष' जन्म-मरण से उत्पन्न दुःख भोगता है, जब तक उसका सूक्ष्मशरीर से सर्वदा के लिये संबन्ध नहीं छूट जाता है। इस प्रकार पुरुष को स्वभावतः दुःख रहता है॥ ५५॥

भाष्यम्—तत्रेति। तेषु देवमानुषतिर्यग्योनिषु, जराकृतं, मरणकृतं चैव दुःखं चेतनः=चैतन्यवान् पुरुषः प्राप्नोति, न प्रधानं न बुद्धिर्नाहङ्कारो, न

तन्मात्राणीन्द्रियाणि, महाभूतानि च । कियन्तं कालं पुरुषो दुःखं प्राप्नोतीति, तद्विविनक्ति—लिङ्गस्याविनिवृत्तेरिति । यत्तन्महदादिलिङ्गशरीरेणाविश्य तत्र व्यक्तीभवति, तद्यावन्न निवर्त्तते संसारशरीरमिति, तावत् संक्षेपेण त्रिषु स्थानेषु पुरुषो जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति । लिङ्गस्याऽऽविनिवृत्तेः = लिङ्गस्य विनिवृत्तिं यावत् । लिङ्गनिवृत्तौ मोक्षो, मोक्षप्राप्तौ नास्ति दुःखमिति । तत् पुनः केन निवर्त्तते ? यदा पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं स्यात् सत्त्वपुरुषान्यथाख्यातिलक्षणम्, 'इदं प्रधानमियं बुद्धिरयमहङ्कार इमानि पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि, पञ्च महाभूतानि एभ्योऽन्यः पुरुषो विसदृश' इत्येवंज्ञानाल्लिङ्गनिवृत्तिस्ततो मोक्ष इति ॥ ५५ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[सांख्यसम्मत जड़ीय-सृष्टि तथा देवादि लोकों का विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया गया । अब यह जिज्ञासा होती है कि देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि योनियों में कौन दुःख भोगता है ? क्या चौबीसवां 'प्रधान' तत्त्व अथवा 'महदादि' तेईस तत्त्व अथवा 'पुरुष' ? प्रस्तुत कारिका में इसी विषय पर अतिसंक्षेप से विचार किया जा रहा है]

प्रधान, बुद्धि, अहंकार, पञ्चतन्मात्र तथा पञ्चमहाभूत इन जड़ पदार्थों को दुःख व्याप्त नहीं होता है । चेतन पुरुष को ही जन्म तथा मरण से संबन्धित दुःख भोगना पड़ता है । 'लिङ्गस्याऽऽविनिवृत्ते' इस कारिकांश द्वारा दुःखभोग की अवधि (काल) बताई जा रही है । जब तक पुरुष का लिङ्गशरीर में आवागमन का चक्र समाप्त नहीं होता है तब तक लिङ्गशरीर से बद्ध पुरुष को दुःखादि भोगना पड़ता है । स्थूलशरीराविष्ट सूक्ष्मशरीर की निवृत्ति होने पर मोक्ष होता है । मोक्ष पद पर प्रतिष्ठित होते ही दुःख का आत्यन्तिक रूप से नाश हो जाता है । दुःखनिवृत्ति का उपाय है—पञ्चविंशति तत्त्वों का अपरोक्षात्मक ज्ञान होना । इसे सांख्यशास्त्र में 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति' नाम से पुकारा जाता है । अर्थात् प्रधान, बुद्धि आदि चौबीस जड़ पदार्थों से पूर्णतया (सर्वथा) भिन्न अपने स्वरूप का प्रत्यक्षबोध होने पर पुरुष को दुःखानुभूति नहीं होती है । इसके मूल में सांख्य का यह सिद्धान्त छिपा हुआ है कि जिस प्रकार तप्तलोहपिण्ड को देखकर अग्नि एवं लोह की पृथक् प्रतीति नहीं होती है, अग्नि का दग्धृत्व धर्म लोह का दिखाई पड़ता है । इसी प्रकार बुद्धि एवं पुरुष दोनों के एक रूप प्रतिभासित होने से दुःखादि धर्म; जो वस्तुतः बुद्धिनिष्ठ हैं, पुरुष के ही प्रतीत होते हैं । और अज्ञानावृत्त पुरुष अपने को सुखी-दुःखी समझता है । विवेकज्ञान से जब भ्रमात्मक अभेदज्ञान का नाश हो जाता है तब पुरुष को दुःख से छुटकारा मिल पाता है ॥ ५५ ॥

[प्रकृति की सृजन-प्रवृत्ति का प्रयोजन]

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—इति प्रकृतिकृतः महदादिविशेषभूतपर्यन्तः [सर्गः] स्वार्थे इव प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं परार्थे आरम्भो भवति ॥ ५६ ॥

कारिकार्थः—इस प्रकार मूलप्रकृति द्वारा किया गया महत् से लेकर आकाशादि विशेषभूतपर्यन्त यह सर्ग (सृष्टि) अपने प्रयोजन की भांति प्रत्येक पुरुष को मोक्ष प्रदान करने के लिये दूसरे के प्रयोजनार्थ आरम्भ किया जाता है ॥ ५६ ॥

भाष्यम्—प्रकृतेः किंनिमित्तमारम्भ इत्युच्यते--'इत्येष' परिसमाप्तौ निर्देशे च । प्रकृतिकृतौ = प्रकृतिकरणे, प्रकृतविक्रियायां, य आरम्भो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः 'प्रकृतेर्महान् , महतोऽहङ्कारस्तस्मात् तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि, तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानी' त्येष, प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं = पुरुषं प्रति देवमनुष्यतिर्यग्भावं गतानां विमोक्षार्थमारम्भः । कथम् ? स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः । यथा कश्चित् स्वार्थं त्यक्त्वा मित्रकार्याणि करोति, एवं प्रधानम् । पुरुषोऽत्र प्रधानस्य न किञ्चित् प्रत्युपकारं करोति । स्वार्थ इव । न च स्वार्थः, परार्थ एव । अर्थः = शब्दादिविषयोपलब्धिर्गुणपुरुषान्तरोपलब्धिश्च । 'त्रिषु लोकेषु शब्दादिविषयैः पुरुषा योजयितव्याः, अन्ते च मोक्षेणे'ति प्रधानस्य प्रवृत्तिः । तथा चोक्तम्–'कुम्भवत् प्रधानं, पुरुषार्थं कृत्वा निवर्तते' इति ॥ ५६ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[बाईसवीं से चव्वनवीं कारिका पर्यन्त मूल प्रकृति के परिवार के प्रत्येक सदस्य (महदादि) पर अनेक पहलुओं से विचार किया गया । वर्तमान कारिका में प्रकृति द्वारा तत्त्वाभिव्यक्ति (सृष्टि) क्यों की जाती है ? अर्थात् प्रकृत्ति की सृजन-प्रवृत्ति का क्या उद्देश्य है ? इस प्रश्न को हल किया जा रहा है]

प्रकृति की 'तात्त्विक सृष्टि' का क्रम इस प्रकार है—प्रकृति से महत् (बुद्धि), महत् से अहंकार, अहंकार से एकादश इन्द्रियां तथा पञ्चतन्मात्र एवं पञ्चतन्मात्र से पञ्चमहाभूत । व्यवहार में आने वाले घट, पटादि स्वतन्त्र पदार्थ (तत्त्वान्तर) नहीं हैं, वे महाभूत के अन्तर्गत हैं । प्रकृति—देव, मनुष्य तथा तिर्यक् योनि में फंसे प्रत्येक पुरुष (प्राणी) को जन्म-मरण के दुःखों से 'सार्वकालिक' तथा

अनैकान्तिक' मुक्ति दिलाने के लिये—तत्त्वों की सृष्टि करती है। प्रकृति ऐसे परोपकारक सुहृद की भांति है, जो स्वार्थ को तिलाञ्जलि देकर अपने मित्र (पुरुष) के अभ्युदयार्थ निरन्तर चिन्तित रहतो है। प्रकृति की इस उपकार-भावना के पीछे, उसमें उपकृत पुरुष द्वारा बदले में कुछ लेने की लालसा छिपी नहीं है। वह प्रत्येक पुरुष को मोक्ष प्रदान करने में ही अपने अस्तित्व का साफल्य समझती है। उसकी कृतकृत्यता इसी में है।

बद्ध का ही मोक्ष होता है। पुरुष के प्रति प्रकृतिकृत मोक्ष व्यवस्था को भोग पुरस्सर समझना चाहिये। इसीलिये प्रकृति के दो प्रयोजन बतलाये गये हैं—एक; शब्दादि विषयों की उपलब्धि कराना है और दूसरा. गुणपुरुषान्तरोपलब्धि 'अर्थात् प्रकृति-पुरुष की भेदोपलब्धि कराना है। इस प्रकार प्रकृति, प्रत्येक पुरुष के प्रति भोग एवं मोक्ष को सम्पन्न करके तत्-तत् पुरुष की ओर से उसी प्रकार निवृत्त हो जाती है जिस प्रकार जल से भरा घड़ा लोगों की प्यास शान्त कर कृतकृत्य हो जाता है। दोनों (प्रकृति एवं घड़ा) का अपना कोई प्रयोजन नहीं रहता ॥ ५६ ॥

[जड़ात्मक प्रधान की स्वतः प्रवृत्ति]

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ ५७ ॥

अन्वयः—यथा वत्सविवृद्धिनिमित्तम् अज्ञस्य क्षीरस्य प्रवृत्तिः [स्वाभाविकी] तथा पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानस्य प्रवृत्तिः (स्वाभाविकी) भवति ॥ ५७ ॥

कारिकार्थ—जिस प्रकार बछड़े की वृद्धि के लिये ज्ञानशून्य अचेतन दुग्ध का मातृ-स्तनों से निःक्षरण होना अत्यन्त स्वाभाविक है, उसी प्रकार पुरुष को मोक्ष प्रदान करने के लिये अचेतन प्रधान की सृष्टि-योजना अत्यन्त स्वाभाविक है ॥ ५७ ॥

भाष्यम्—अत्रोच्यते-अचेतनं प्रधानं चेतनः पुरुष इति-'मया त्रिषु लोकेषु शब्दादिभिर्विषयैः पुरुषो योज्योऽन्ते मोक्षः कर्तव्य' इति कथं चेतनवत् प्रवृत्तिः ? सत्यं। किन्त्वचेतनानामपि प्रवृत्तिर्दृष्टा, निवृत्तिश्च यस्मादित्याह। यथा तृणोदकं गवा भक्षितं क्षीरभावेन परिणम्य वत्सविवृद्धिं करोति; पुष्टे च वत्से निवर्तते, एवं पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानस्येति, अज्ञस्य प्रवृत्तिरिति ॥ ५७ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—['प्राकृत-सर्ग' एवं उसका प्रयोजन

व्याख्यात हुआ। लेकिन प्रकृति एवं उसके सोद्देश्यक सृष्टिरूपव्यापार में असामाञ्जस्य प्रतीत हो रहा है। यह इस प्रकार है—प्रकृति जड़ है, उसमें 'प्रवृत्ति' (यत्न) नहीं रह सकती है। प्रवृत्ति तो चेतन पदार्थों का धर्म है। जड़ रथ को स्वतः चलते हुए किसी ने नहीं देखा होगा। चेतन सारथि से सुनियन्त्रित होकर ही यह उपयोग में लाया जाता है। अतः पुरुष को भोग तथा भोग के पश्चात् मोक्ष दिलाने की इच्छुक जड़ प्रकृति महदादि कार्यों का निर्माण (आविर्भाव) करती है, ऐसा कहना हास्यास्पद प्रतीत हो रहा है। प्रस्तुत कारिका में आचार्य ईश्वरकृष्ण ने आपाततः हास्यास्पद प्रतीत उपर्युक्त वार्ता को सोदाहरण सिद्धान्त रूप से परिणत कर पूर्वपक्षियों का मुखमुद्रण किया है]

जड़ात्मक प्रधान की चेतनवत् प्रवृत्ति अत्यन्त स्वाभाविक है। जिस प्रकार गाय का दूध वत्स के संवर्धन-हेतु गो-स्तन से स्वतः क्षरित होता है तथा वत्स के परिपुष्ट होने पर दूध अपने आप निवृत्त (समाप्त) भी हो जाता है। गो-दुग्ध की यह प्रवृत्ति-निवृत्ति अत्यन्त स्वाभाविक है। इस दैनन्दिन अनुभव को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता है। इस लौकिक दृष्टान्त के आधार पर दर्शन की पृष्ठभूमि पर प्रकृति के 'प्रवर्तन-निवर्तन' का सिद्धान्त अङ्कित हुआ है, जो युक्तियुक्त भी है। परिणामशीला प्रकृति की सबसे बड़ी महानता यह है कि उसका प्रत्येक क्रिया-कलाप परोपकार की दृष्टि से होता है स्वार्थ भावना का उसमें संस्पर्श भी नहीं है। इतना ही नहीं, उसका उपकार सजातीय जड़वर्ग के प्रति भी नहीं है, अपितु विजातीय चेतन समूह के प्रति है। उसमें जातीय राग-द्वेष अर्थात् साम्प्रदायिकता नहीं है। परोपकार का कितना ज्वलन्त उदाहरण है। उसका परोपकार भी सर्वोच्च कोटि का है, जो अतुलनीय है। वह पक्षपातिनी नहीं है। प्रत्येक पुरुष को मोक्ष प्रदान करने की योजना के अनुसार वह महदादि पदार्थों का उत्पादन करती है। अतः जड़ होते हुए भी प्रधान की प्रवृत्ति अत्यन्त स्वाभाविक है ॥ ५७ ॥

[प्रवृत्ति के मूल में इच्छा-पूर्ति]

औत्सुक्यविनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—यथा लोकः औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं क्रियासु प्रवर्त्तते, तद्वत् अव्यक्तं पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते ॥ ५८ ॥

कारिकार्थः—जिस प्रकार व्यक्ति अपनी इच्छा-पूर्त्ति के लिये तत्संबन्धित

क्रियाओं में प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार मूलप्रकृति (प्रधान) भी पुरुष को मोक्ष (भोग के पश्चात् मोक्ष) प्रदान करने के लिये महदादि रूप से परिणत होती है ॥ ५८ ॥

भाष्यम्—किञ्च-यथा लोक इष्टौत्सुक्ये सति तस्य निवृत्त्यर्थं क्रियासु प्रवर्तते गमनाऽऽगमनक्रियासु, कृतकार्यो निवर्तते, तथा पुरुषस्य विमोक्षार्थं—शब्दादि-विषयोपलब्धिलक्षणं, गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं च द्विविधमपि पुरुषार्थं कृत्वा, प्रधानं निवर्तते ॥ ५८ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[अव्यवहित पूर्व कारिका में कथित विषय के स्पष्टीकरण में ही प्रस्तुत कारिका का उपयोग है। 'प्रवृत्ति' सोद्देश्यक हुआ करती है। इसे नैयायिकों ने 'इष्टसाधनताज्ञान' कहा है। प्रवृत्ति 'स्वोद्देश्य' की पूर्ति तथा 'परोद्देश्य' की पूर्ति के लिये हुआ करती है। यदि कहा जाय कि 'प्रवृत्ति' का द्वितीय हेतु (परोद्देश्य) भी प्रथम हेतु के ही समकक्ष है तो अनुचित न होगा क्योंकि उसके मूल में परोपकारजन्य आनन्द की प्राप्ति कर्त्ता (उपकारक) को भी रहती है। प्रस्तुत कारिका में प्रवृत्ति के उभयकारणों पर प्रकाश डाला जा रहा है]

'लोक्यत इति लोकः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार दर्शनकर्तृत्व 'चेतन' में होने से प्राणिमात्र 'लोक' कहलाता है। जिस प्रकार किसी इच्छाविशेष के जागृत होने पर व्यक्ति उसे पूर्ण करने के लिये तदनुकूल (यथोचित) आवागमन करता है। जैसे चावल खाने का इच्छुक व्यक्ति पाकानुकूल क्रिया में प्रवृत्त होता है और ओदन-भक्षण (उदर-पूर्ति) के पश्चात् उस क्रिया से निवृत्त भी हो जाता है। ठीक इसी प्रकार प्रकृति 'स्व' के लिये नहीं अपितु 'पर' पुरुष के लिये अपने 'सरूपपरिणाम' को नियन्त्रित करके विरूपरिणाम को उद्घाटित करती है। 'विरूपपरिणाम' का उद्घाटन वस्तुतः 'सृष्टि' का प्रारम्भ है। तत्त्व-सृजन द्वारा ही वह पुरुष के प्रति अपने लक्ष्य को पूर्ण कर पाती है। पहले वह पुरुष को जागतिक पदार्थों का आस्वादन (उपभोग) कराती है और बाद में उसके स्वरूप का साक्षात्कार कराती है। इस साक्षात्कार से पुरुष में जगत् के प्रति तुच्छ बुद्धि जागृत होती है। इस जागरण की अन्तिम परिणति (फल) चित्त की यच्च-यावत् वृत्तियों का आत्यन्तिक निरोध हो जाना है। चित्त की इस प्रकार की निरुद्धावस्था मोक्ष की अव्यवहित पूर्वावस्था है। इसके पश्चात् पुरुष मोक्ष के साम्राज्य में प्रवेश करता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। इस प्रक्रिया के अनुसार प्रकृति प्रत्येक पुरुष को मोक्ष दिलाने के लिये उद्यत

रहती है। पुरुष को मोक्ष के सोपान पर चढ़ाकर कृतकृत्य हुई प्रकृति उस पुरुष के प्रति उदासीन (निवृत्त) हो जाती है ॥ ५८ ॥

[कार्यव्यापृत प्रकृति की निवृत्ति]

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथाऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥५९॥

अन्वयः—यथा नर्तकी रङ्गस्य (आत्मानं) दर्शयित्वा नृत्यात् निवर्त्तते तथा प्रकृतिः पुरुषस्य आत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते ॥ ५९ ॥

कारिकार्थः—जिस प्रकार नृत-चातुरी (नाचने वाली) मञ्चस्थित प्रेक्षकों के समक्ष अपने नृत्य का प्रदर्शन करके नृत्य से विराम ले लेती है उसी प्रकार 'प्रकृति', 'पुरुष' के सामने अपने स्वरूप का प्रकाशन करके सदा के लिये (उसके प्रति) निवृत्त हो जाती है ॥ ५९ ॥

भाष्यम्—किञ्चान्यत्,—यथा नर्त्तकी शृङ्गारादिरसैरितिहासादिभावैश्च निबद्धानि गीतवादित्रनृत्यानि रङ्गस्य दर्शयित्वा कृतकार्या नृत्यान्निवर्तते, तथा प्रकृतिरपि पुरुषस्यात्मानं प्रकाश्य-बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतभेदेन, निवर्तते ॥ ५९ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[पिछली तीन कारिकाओं द्वारा जिज्ञासुओं को प्रकृति की 'प्रवृत्ति' का सिद्धान्त तो समझ में आ गया लेकिन उसकी 'निवृत्ति' के विषय में उनका सन्देह बना रहता है। प्रस्तुत कारिका में लौकिक पृष्ठभूमि पर उक्त दार्शनिक सिद्धान्त (प्रकृति की निवृत्ति के सिद्धान्त) का स्पष्टीकरण अर्थात् विशदीकरण किया जा रहा है, जिससे सन्देह का निवारण हो सके]

सिद्धान्त है कि अनादि पदार्थ अनन्त (नित्य) होता है[1] और सादि पदार्थ सान्त (अनित्य) होता है।[2] यद्यपि प्रकृति अनादि होने से अनन्त (शाश्वत = नित्य) है तथापि उसमें प्रवृत्ति का आरम्भ होने से उसका अन्त होना स्वाभाविक है। स्पष्ट शब्दों में यद्यपि प्रवृति की सरूपात्मक परिणाम क्रिया नित्य है तथापि परिणाम के भेदों (सरूप तथा विरूप) का आविर्भाव तथा तिरोभाव उसमें होता रहता है। प्रवृत्ति तथा निवृत्ति अन्धकार तथा प्रकाश की भांति परस्पर विरोधी है अतः एक के ह्रासकाल में दूसरे की उन्नति

---

१. उत्पत्तिशून्यत्वम् अनादित्वम् ।
२. उत्पत्तिमान्ध्वंसप्रतियोगित्वं सादित्वम् ।

(आविर्भाव) होना स्वाभाविक है। इस प्रकार सांख्यशास्त्र के उपरिवर्णित सिद्धान्त की गम्भीरता को समझ लेने पर इस सिद्धान्त के पुष्ट्यर्थ आचार्य गौडपाद का भाष्य स्पष्ट हो जाता है। भाष्य का भावार्थ यह है—जिस प्रकार रङ्गशाला में बैठे प्रेक्षकों के समक्ष शृङ्गारादि रस, रति-हास आदि भावमिश्रित गीत एवं वाद्य के साथ नृत्य का सफल प्रदर्शन करके नर्तकी मञ्च से अदृश्य हो जाती है। वह उस नृत्य के प्रदर्शनार्थ पुनः मञ्च पर नहीं आती है। अन्यथा तृप्त नेत्र वाले प्रेक्षकों को वह नृत्य अरुचिकर प्रतीत होता है। अतृप्त को तृप्त किया जाता है, तृप्त को तृप्त नहीं। अर्थात् दर्शन की पदावली में 'सिद्धसाधनदोष' आता है। इसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष के सामने अपने स्वरूप को दिखाकर उसकी ओर से निवृत्त हो जाती है। अव्यक्त होने से प्रकृति में दृश्यता नहीं है। उसमें जो दर्शन क्रिया की कर्मता कही गई है वह परम्परया है। प्रकृति अपने महदादि कार्यों के माध्यम से पुरुष के सामने अपने को प्रस्तुत करती है। महदादि कार्यों में दृश्यशक्ति है, वे प्रकृति की अपेक्षा स्थूल होने से व्यक्त कोटि में आते हैं। महदादि तत्त्वों के साक्षात्कार से प्रकृति का साक्षात्कार होना इसलिये माना जाता है कि सांख्ययोगदर्शन के अनुसार कार्यकारण में अभेद है। जड़ तत्त्वों के साक्षात्कार से पुरुष में 'अहं प्रकृतिभिन्नः' इस प्रकार का तत्त्वज्ञानात्मक प्रकाश होता है। पुरुष में इस प्रकार के प्रकाश की अभिव्यक्ति के लिये ही प्रकृति को इतनी लम्बी-चौड़ी योजना तैयार करनी पड़ती है। तत्-तत् पुरुषोद्देश्यीय योजना के पूर्ण (सफल) होते ही वह दीर्घ-निश्वास छोड़कर विश्राम लेता है। अर्थात् जिस पुरुष को लक्ष्य में रखकर उसकी प्रवृत्ति हुई थी, उस पुरुष के ज्ञान-सम्पन्न होते ही वह निवृत्त हो जाती है। उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि 'प्रवृत्ति' की भांति 'निवृत्ति' भी प्रकृति की स्वाभाविक क्रिया है ॥ ५९ ॥

[प्रकृति की निःस्वार्थ प्रवृत्ति]

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।
गुणवत्यगुणस्य सतः तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥ ६० ॥

अन्वयः—उपकारिणी गुणवती प्रकृतिः नानाविधैः उपायैः तस्य अनुपकारिणः अगुणस्य सतः पुंसः अर्थम् अपार्थकम् चरति ॥ ६० ॥

कारिकार्थः—उपकारशीला एवं गुणशीला प्रकृति अनेक प्रकार के उपायों द्वारा प्रत्युपकार (बदले में उपकार) करने वाले सुखादि गुणशून्य पुरुष के अभिप्रेत अर्थ (लक्ष्य) को निःस्वार्थ सिद्ध करती है ॥ ६० ॥

भाष्यम्—कथं को वाऽस्या निवर्तको हेतुः ? । तदाह–नानाविधैरुपायैः प्रकृतिः पुरुषस्योपकारिणी अनुपकारिणः पुंसः । कथम् ? । देवमानुषतिर्यग्भावेन सुखदुःखमोहात्मकभावेन;–एव नानाविधैरुपायैरात्मनं प्रकाश्य–'अहमन्या' 'त्वमन्य' इति, निवर्तते । सतो नित्यस्य,–तस्यार्थमपार्थकं चरित = कुरुते । यथा कश्चित् परोपकारी सर्वस्योपकुरुते, नाऽऽत्मनः प्रत्युपकारमीहते, एवं प्रकृतिः पुरुषार्थं चरित = करोत्यपार्थकम् । पश्चादुक्तमात्मानं प्रकाश्य निवर्तते ॥ ६० ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[जिज्ञासुओं को प्रकृति की प्रवृत्ति-निवृत्ति का सिद्धान्त समझ में आ गया । लेकिन वह निःस्वार्थ परार्थपरायणा है, यह उन्हें असम्भव प्रतीत होता है । उपकृत पुरुष से प्रकृति अवश्य लाभान्वित होती होगी ? परार्थसाधन में प्रवृत्त व्यक्ति का स्वार्थसाधन भी हो जाता है, ऐसा देखने में आता है । इस आशङ्का के समाधानार्थ निम्न कारिका उपस्थित की जा रही है]

'प्रकृति' प्रतिदान की भावना से पुरुष का उपकार नहीं करती है । वह तो उस निर्मोही परोपकारी व्यक्ति की भांति है, जो दूसरों के लिये अपने जीवन को समर्पित कर देता है । वृक्ष का जन्म दूसरों को सुख प्रदान करने के लिये ही होता है । फिर त्रिगुणात्मिका प्रकृति जिसका (पुरुष का) भोगापवर्ग रूप उपकार करती है उस उपकृत पुरुष का ऐसा स्वरूप ही नहीं है कि वह अपने उपकारी के लिये कुछ कर सके । वह तो निर्गुण है ।[1] निर्गुण में कैसी गुणग्राहकता तथा कृतज्ञता-प्रकाशनता ? पुरुष उस निर्धन की भांति है जो दाता को धन देने में अपने को असमर्थ पाता है । अतः प्रकृति के उपकार की प्रत्युपकारशून्यता अत्यन्त स्पष्ट है । इस प्रसङ्ग में आचार्य गौडपाद ने एक बार पुनः उपकार के साधनों को बता दिया है । उनका कहना है कि प्रकृतिः—देव, मनुष्य तथा तिर्यग् योनि रूप से, सुख, दुःख तथा मोह रूप से एवं शब्दादि विषय रूप से अर्थात् भोग्य-भोगसाधन-भोगायतनात्मक अनेक परिणामों के द्वारा-उपकारक होती है । इस उपकार से पुरुष में प्रकृति का स्वरूप-परिचय 'मैं दूसरा हूं, तुम (प्रकृति) दूसरी हो' इस प्रकार होता है । फलस्वरूप उपकारक एवं उपकृत दोनों एक-दूसरे से निवृत्त हो जाते हैं ॥ ६० ॥

[विवेकख्याति के अनन्तर प्रधान की आत्यन्तिकी-निवृत्ति]

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥६१॥

---

१. साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च–(श्रुति) असङ्गोऽयं पुरुष इति (सां॰ सू॰ १।१५) ।

अन्वयः—प्रकृतेः सुकुमारतरं किञ्चित् (अपि) न अस्ति इति मे मतिः भवति, या दृष्टा अस्मि इति पुनः पुरुषस्य दर्शनं न उपैति ॥ ६१ ॥

कारिकार्थः—त्रिगुणात्मिका प्रकृति से अधिक संकोचशील दूसरी कोई वस्तु नहीं है, ऐसा मुझ कारिकाकार का निश्चय (विश्वास) है। क्योंकि वह (पुरुष के द्वारा) 'मैं देख ली गई हूं' इस प्रकार जाकर (लज्जा से झुकी हुई) पुनः पुरुष के दृष्टिपथ में नहीं जाती है अर्थात् उसका भोग्य नहीं बनती है ॥६१॥

भाष्यम्—निवृत्ते च किं करोतीत्याह। लोके प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीत्येवं मे मतिर्भवति, येन परार्थे एवं मतिरुत्पन्ना। कस्मात्? । अहमनेन पुरुषेण दृष्टास्मीत्यस्य पुंसः पुनर्दर्शनं नोपैति। पुरुषस्याऽदर्शनमुपयातीत्यर्थः। तत्र सुकुमारतं वर्णयति। केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते—

'अज्ञो जन्तुरनाशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा'॥

अपरे स्वभावकारणिकां ब्रुवते—

'केन शुक्लीकृता हंसा, मयूराः केन चित्रिताः। स्वभावेनैव—' इति।

अत्र साङ्ख्याचार्या आहुः—निर्गुणत्वादीश्वरस्य कथं सगुणतः प्रजा जायेरन्। कथं वा पुरुषान्निर्गुणादेव? तस्मात् प्रकृतेर्युज्यते। तथा शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्ल एव पटो भवति, कृष्णेभ्यः कृष्ण एव इति। एवं त्रिगुणानां प्रधानात् त्रयो लोकास्त्रिगुणाः समुत्पन्ना इति गम्यते। निर्गुण ईश्वरः, सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरयुक्तेति। अनेन पुरुषो व्याख्यातः। तथा—केषाञ्चित् कालः कारणमिति। उक्तं च—

कालः पचति भूतानि, कालः संहरते जगत्।
कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः॥

व्यक्ताऽव्यक्तपुरुषास्त्रयः पदार्थाः तेन कालोऽन्तर्भूतोऽस्ति। स हि व्यक्तः, सर्वकर्तृत्वात्, कालस्यापि प्रधानमेव कारणम्। स्वभावोऽप्यत्रैव लीनः। तस्मात् कालो न कारणम्। नापि स्वभाव इति। तस्मात् प्रकृतिरेव कारणं, न प्रकृतेः कारणान्तरमस्तीति। न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य। अतः प्रकृतेः सकुमारतरं = सुभोग्यतरं, न किञ्चिदीश्वरादि कारणमस्तीति मे मतिर्भवति। तथा च लोके रूढम् ॥ ६१ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[उपर्युक्त वर्णन से प्रकृति की निःस्वार्थ

परार्थसाधनता का सिद्धान्त समझ में आ जाता है किन्तु उपकृत पुरुष की ओर से प्रकृति की 'आत्यन्तिकी-निवृत्ति' होती है, यह सन्देहास्पद प्रतीत होता है। जिस प्रकार नृत्य प्रदर्शन से निवृत्त नर्तकी मुग्ध प्रेक्षकगण के अनुरोध से पुनः उसी नृत्य को दिखाने के लिये प्रवृत्त होती है और दुगुनी धन-राशि प्राप्त करती है। उसी प्रकार उपकृत (विवेकख्यातिप्राप्त अर्थात् मुक्त) पुरुष की ओर से सृष्टि-व्यापार को समेटी हुई (निवृत्त हुई) 'प्रकृति' पुनः उस पुरुष के लिये सर्गरचना करती है, ऐसा मान लिया जाय? प्रकृति की आत्यन्तिक निवृत्ति का सिद्धान्त कथमपि सम्भव नहीं है। प्रस्तुत कारिका में आचार्य ईश्वरकृष्ण रूपक के द्वारा पूर्वपक्षी के उपरिनिर्दिष्ट मन्तव्य का खण्डन करते हैं]

लौकिक जगत् में पतिव्रता उच्च कुलवधु सबसे अधिक लज्जाशीला मानी गई है। लेकिन दर्शन-जगत् की 'प्रकृति' लौकिक वधु से भी अधिक लज्जावती है। उसकी लज्जा अतुलनीय है, ऐसा सांख्यदार्शनिकों का कहना है। यह बोध होते ही कि 'अमुक पुरुष मेरे स्वरूप से परिचित हो गया' बेचारी लज्जावश अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग (महदादि कार्य) को सिकोड़ती (तिरोभाव करती) हुई उसके सामने से अदृश्य हो जाती है। फिर कभी भी उसे अपना मुखौटा नहीं दिखाती है। वह नर्तकी के समान निर्लज्ज नहीं है। इससे यह सिद्धान्तित हुआ कि तत्-तत् पुरुष के भोगापवर्ग को निष्पन्न कर 'प्रकृति' उन विवेकी पुरुषों की ओर से पूर्णतया उदासीन हो जाती है। अर्थात् पुनः विवेकी पुरुष के प्रति 'सर्ग-रचना के लिये प्रवृत्त नहीं होती है। अतः उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति का सिद्धान्त निर्दुष्ट है।

इस सन्दर्भ में गौडपादभाष्य में 'जगत्कारणवाद' की भी चर्चा मिलती है। लेकिन यह अंश कारिका से असम्बद्ध प्रतीत होता है। इस अंश का निरीक्षण कर स्वर्गीय पण्डित बाल गंगाधर तिलक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह किसी दूसरी कारिका की व्याख्या है, जो अब लुप्त हो चुकी है। अतः वर्तमान कारिका का भाष्य प्रतीत न होने से मैंने इस अंश पर यहां विचार करना उचित नहीं समझा है ॥ ६१ ॥

[बन्ध-मोक्ष का वास्तविक अधिकरण प्रकृति]

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥

अन्वयः—तस्मात् अद्धा कश्चित् न संसरति, न बध्यते नापि मुच्यते। प्रकृतिरेव नानाश्रया सतो संसरति बध्यते मुच्यते च ॥ ६२ ॥

कारिकार्थः—पुरुष के निर्गुण तथा अपरिणामी होने से वस्तुतः कोई भी पुरुष 'संसरण' (आवागमन) नहीं करता है, 'बंधता' नहीं है और 'मुक्त' भी नहीं होता है। (अपितु) प्रकृति (बुद्धि) ही विभिन्न योनि के चैतन्याधिष्ठित शरीरों का आश्रय प्राप्त करती हुई 'संसरण', 'बन्धन' एवं 'मोक्ष' को प्राप्त करती है ॥ ६२ ॥

भाष्यम्—'पुरुषो मुक्तः' 'पुरुषः संसारी'ति नोदिते आह—तस्मात् कारणात्, पुरुषो न बध्यते, नापि संसरति, यस्मात् कारणात् प्रकृतिरेव नानाश्रया = दैवमानुषतिर्यग्योन्याश्रया बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतस्वरूपेण बध्यते, मुच्यते, संसरति चेति। अथ मुक्त एव स्वभावात् स सर्वगतश्च कथं संसरति ?। अप्राप्तप्रापणार्थं संसरणमिति तेन पुरुषो बध्यते, पुरुषो मुच्यते, पुरुषः संसरतीति व्यपदिश्यते, येन संसारित्वं विद्यते। सत्त्वपुरुषान्तरज्ञानात्तत्त्वं पुरुषस्याऽभिव्यज्यते। तदभिव्यक्तौ केवलः, शुद्धः, मुक्तः, स्वरूपप्रतिष्ठः पुरुष इति। अथ यदि पुरुषस्य बन्धो नास्ति, ततो मोक्षोऽपि नास्ति ? अत्रोच्यते-प्रकृतिरेवात्मानं बध्नाति, मोचयति च, यत्र सूक्ष्मशरीरं तन्मात्रकं, त्रिविधकरणोपेतं तत् त्रिविधेन बन्धेन बध्यते। उक्तञ्च—

'प्राकृतेन च बन्धेन, तथा वैकारिकेण च।
दाक्षिणेन तृतीयेन बद्धो नान्येन मुच्यते ॥

तत् सूक्ष्मं धर्माऽधर्मसंयुक्तम् ॥ ६२ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[पीछे पुरुष के प्रति प्रकृति के व्यापार का उल्लेख हुआ और यह बतलाया गया कि पुरुष के बन्ध-मोक्ष की व्यवस्थापिका एक मात्र प्रकृति है। लेकिन यह सिद्धान्त सांख्य के पुरुषसंबन्धित 'निर्गुणत्ववाद' के विरुद्ध है, और श्रुति स्मृति जैसे 'साक्षो चेता केवलो निर्गुणश्च' के द्वारा भी पुरुष की निर्गुणता का प्रतिपादन हुआ है। अतः 'पुरुष मुक्त है, संसारी है' यह कैसे उपपन्न हो सकता है ? प्रस्तुत कारिका में बालु की भित्ति के समान आपाततः ढहते (खण्डित होते) हुए उक्त सिद्धान्त (पुरुष-निर्गुणत्ववाद) का वास्तविक स्वरूप-उद्घाटित कर आचार्य ईश्वरकृष्ण उसकी पुनर्स्थापना करते हैं]

पूर्वपक्षी की शङ्का के अनुसार यह ठीक है कि जन्म-मरण रूप 'संसरण' क्लेश-कर्म विपाक-वासना रूप 'बन्धन' तथा इस बन्धन से छुटकारा रूप

'मोक्ष' निर्धर्मक पुरुष का कथमपि नहीं हो सकता है। ये सब स्थितियां (संसरणादि) तो जड़ प्रकृति के स्वरूप के अनुरूप हैं। वही देव, मनुष्य तथा तिर्यग् योनियों को ग्रहण करके बुद्धि, अहंकार, एकादश-इन्द्रियां पञ्चतन्मात्र तथा पञ्चमहाभूत के माध्यम से संसरण, बन्धन एवं मोचन-इन त्रिविध अवस्थाओं को पार करती है। मोक्ष उसकी अन्तिम एवं शाश्वत अवस्था है। इस अवस्था से प्रच्युति नहीं होती है। लेकिन पूर्वपक्षी को अपनी शङ्का में इस प्रकार का संशोधन कर लेना चाहिये कि पुरुष का बन्ध-मोक्ष 'औपाधिक' तथा प्रकृति का बन्ध-मोक्ष 'वास्ताविक' है। पुरुष में उपचरित (व्यपदिष्ट) उपाधिगतदोष (बन्धादि) उसके निर्धर्मक स्वरूप को क्षति नहीं पहुंचाते हैं। जैसे दर्पणगत मलिनता से आपाततः प्रतीत मलिन मुख वस्तुतः मलिन नहीं होता है। पुरुष पद्मपङ्कवत् सुखदुःखादि से निर्लिप्त ही रहता है।

दार्शनिकों की यह मान्यता है कि एक-एक जीव (पुरुष) एक-एक सूक्ष्म-शरीर से सम्बद्ध रहता है और सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर से। यह संबन्ध अविद्या की निवृत्ति-पर्यन्त बना रहता है। अविद्या की स्थिति तक 'बन्ध' एवं 'संसरण' तथा उसके परे (अविद्या के नष्ट होने पर) 'मोक्ष' की कल्पना की गई है। सूक्ष्म-शरीर के निर्माणकारक तत्त्वों में सत्त्वमयी बुद्धि, अत्यन्त स्वच्छ स्फटिकमणि की भांति प्रतिबिम्बग्राहिणी है। बुद्धि के धर्म, ज्ञान आदि आठ धर्म हैं। सूक्ष्मशरीर से सम्बद्ध पुरुष अपनी समीपवर्तिनी बुद्धि में सर्वदा प्रतिबिम्बित होता रहता है। इस प्रतिबिम्ब के आधार पर पुरुष और बुद्धि की भेदप्रतीति तिरोहित हो जाती है। फलस्वरूप प्रकृत्यात्मक बुद्धि के बन्धादि धर्मों को पुरुष अपना समझने लगता है। पुरुष का यही आरोपित भ्रम उसका 'संसार' तथा भ्रमनिवृत्ति 'मोक्ष' कही जाती है। वस्तुतः बुद्धि का ही बन्ध एवं मोक्ष होता है। इसी दृष्टिकोण से पिछली कई कारिकाओं में पुरुष के बन्ध मोक्ष का उल्लेख हुआ है। आचार्य गौडपाद के भाष्य का यही आशय है ॥ ६२ ॥

[प्रकृति के बन्ध एवं मोक्ष का कारण]

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति [illegible]चयत्येकरूपेण ॥६३॥

अन्वयः—प्रकृतिः पुरुषार्थं [भोगार्थं] प्रति आत्मना एव सप्तभिः रूपैः आत्मानं बध्नाति। सैव च पुरुषार्थं [अपवर्गार्थं] प्रति। आत्मना एव] एकरूपेण आत्मानं विमोचयति ॥ ६३ ॥

कारिकार्थः—प्रकृति भोग रूप पुरुषार्थ के लिये अपने ही धर्मादि सात रूपों (भावों) के द्वारा स्वयं को वांधती है और अपवर्ग रूप पुरुषार्थ के लिये अपने ही ज्ञान रूप एक भाव के द्वारा स्वयं को मुक्त करती है ॥ ६३ ॥

भाष्यम्—'प्रकृतिश्च बध्यते, प्रकृतिश्च मुच्यते, संसरती'ति कथम्? तदुच्यते—रूपैः सप्तभिरेव। एतानि सप्त प्रोच्यन्ते-धर्मो, वैराग्यमैश्वर्यमधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यम्। एतानि प्रकृतेः सप्त रूपाणि। तैरात्मानं = स्वं बध्नाति प्रकृतिः। आत्मना = स्वेनैव। सैव प्रकृतिः पुरुषस्यार्थं=पुरुषार्थः कर्त्तव्य' इति। विमोचयत्यात्मानमेकरूपेण=ज्ञानेन ॥ ६३ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[प्रकृति अर्थात् बुद्धि के वास्तविक बन्ध-मोक्ष की प्रतिष्ठापना हो जाने के पश्चात् उसके बन्धादि का कारण क्या है? क्रमप्राप्त इस जिज्ञासित विषय को कारिका द्वारा बताया जा रहा है।

प्रकृति कहिये अपना बुद्धि कहिये उसके आठ धर्म हैं। उनमें से धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य-ये चार सात्त्विक-धर्म हैं तथा अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य—ये चार तामस धर्म हैं। सांख्यदर्शन में ये (धर्म) 'भाव' नाम से भी अभिहित हुए हैं। इनमें दो प्रकार की कार्यशक्तियां उपलब्ध होती हैं। धर्म, वैराग्य तथा ऐश्वर्य-इन तीन एवं अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य इन चार अर्थात् कुल सात में 'बन्धनशक्ति है। एक मात्र ज्ञान में, वह भी सर्वसाधारणज्ञान में नहीं अपितु प्रकृतिपुरुषभेदात्मक विशिष्टज्ञान में 'मोचनशक्ति' है। इस प्रकार प्रकृति के बन्धक एवं मोचक तत्त्वों (धर्मों) पर प्रकाश डाला गया। प्रकृति की तुलना यदि मकड़ी से की जाय तो अनुचित न होगा। जिस प्रकार मकड़ी स्वनिर्मित्त जाले में स्वयं फंसती है और स्वयं उसी से निकलती है उसी प्रकार प्रकृति भी स्वयं ही महदादि तत्त्वों की उत्पत्ति कर उनसे बंधती है और स्वयं विवेकज्ञानपूर्वक महदादि कार्यों का अपने में लय, करके मुक्त होती है ॥ ६३ ॥

[तत्त्वज्ञान का हेतु तथा उसका स्वरूप]

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥

अन्वयः—एवं तत्त्व+अभ्यासात् 'न अस्मि, न मे, न अहम्' इति अविशेषम् अविपर्ययात् विशुद्धं केवलं ज्ञानम् उत्पद्यते ॥ ६४ ॥

कारिकार्थः—पूर्व कथित वर्णन के अनुसार 'तत्त्वज्ञान' का (पौनःपुन्येन)

अभ्यास करने से मैं (क्रियावान्) नहीं हूं, मेरा (भोक्तृत्व) नहीं है तथा मैं (कर्ता) नहीं हूं-इस प्रकार का सर्वथा परिपूर्ण, संशय-विपर्यय-विकल्प रूप मालिन्य से रहित अतएव परिशुद्ध केवलज्ञान (कैवल्यविषयकज्ञान) उत्पन्न होता है ॥ ६४ ॥

भाष्यम्—कथं तज्ज्ञानमुत्पद्यते ? । एवमुक्तेन क्रमेण पञ्चविंशतितत्त्वालोचनाभ्यासात् 'इयं प्रकृतिः, अयं पुरुषः, एतानि पञ्चतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतानी'ति पुरुषस्य ज्ञानमुत्पद्यते । नास्मि = नाहमेव भवामि । न—मे=मम शरीरं तत्, यतोऽहमन्यः; शरीरमन्यत् । नाहमित्यपरिशेषम् , अहङ्काररहितम् । अविपर्ययाद्विशुद्धम् । विपर्ययः=संशयोऽविपर्ययादसंशयाद्विशुद्धं = केवलं, तदेव नान्यदस्तीति मोक्षकारणमुत्पद्यते = अभिव्यज्यते, ज्ञानं = पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं पुरुषस्येति ॥ ६४ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[अव्यवहित पूर्व कारिका में बुद्धि की तत्त्वज्ञानात्मक वृत्ति (धर्म) को मोक्ष का साधन बताया गया । सम्प्रति, अत्यन्त उपयोगी 'तत्त्वज्ञान' कैसे उत्पन्न होता है तथा इसका स्वरूप क्या है ? यह स्पष्ट किया जा रहा है]

मोक्षोपयोगी 'तत्त्वज्ञान' अनुमान या आगमप्रमाण से जन्य नहीं है । वह प्रत्यक्षप्रमाण पर आधारित है । सांख्यसम्मत पञ्चविंशति तत्त्वों के अपरोक्षात्मक-ज्ञान को 'तत्त्वज्ञान' नाम से पुकारा जाता है । इस विशिष्ट ज्ञान की महिमा से संशय, विपर्यय तथा विकल्पादि रूप मलिनज्ञान प्रक्षालित (नष्ट) हो जाता है । अतः मलशोधक इस ज्ञान को 'विशुद्ध' कहा है । इसका उदय; तत्त्वों के चिन्तन-प्रधान सुदृढ अभ्यास से, होता है । अभ्यास कैसा हो ? यह, सांख्यशास्त्र के पूरक योगशास्त्र के 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः'[1]—सूत्र में कहा गया है । परिपूर्ण होने से तत्त्वज्ञान को 'अविशेष' कहा गया है । ज्ञान की यह चरमावधि (पराकाष्ठा) है । इससे परे और कोई उत्कृष्ट ज्ञान नहीं है । इसी के अन्तर्गत संसार के यच्च-यावत् पदार्थों का ज्ञान निहित है । भेदज्ञान, तत्त्वज्ञान की आधारशिला है । भ्रमात्मक अभेद प्रतीति का समूलोच्छेद करना इसका काम है । इसीलिये तत्त्वज्ञानी को ऐसा ज्ञान उदित होता है कि—'मैं क्रियाधर्मविशिष्ट नहीं हूँ, मैं भोक्तृत्वधर्मविशिष्ट नहीं हूं और मैं कर्तृत्वधर्मविशिष्ट भी नहीं हूं । ये सब धर्म प्रकृतिनिष्ठ हैं । मैं प्रकृति एवं उसके कार्य महदादि से

१. यो० सू० १।१४ ।

पूर्णतया पृथक् हूं'। इस प्रकार का अपरोक्षात्मक तत्त्वज्ञान ज्ञानी को मोक्ष पद पर प्रतिष्ठित करता है। जहां से पुरुष की पुनः प्रच्युति नहीं होती है ॥ ६४ ॥

[तत्त्वज्ञानी की स्थिति]

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—तेन स्वस्थः प्रेक्षकवत् अवस्थितः (स्वच्छः) पुरुषः अर्थवशात् निवृत्तप्रसवां सप्तरूपविनिवृत्तां प्रकृतिं पश्यति ॥ ६५ ॥

कारिकार्थः—यच्च-यावत् पदार्थों के विषय में अपरोक्षात्मक भेदज्ञान होने के पश्चात् स्वच्छ अर्थात् पक्षपातरहित तटस्थ साक्षी की भांति औपाधिक सम्पर्कशून्य अतएव अपने स्वरूप में स्थित निष्क्रिय तत्त्वज्ञानी पुरुष—भोगापवर्ग रूप प्रयोजन के सम्पन्न हो जाने से अतएव महदादि पदार्थोत्पत्ति से रहित, धर्मादि सात भावों से निवृत्त (अभिभूत) अर्थात् कृतकृत्य हुई त्रिगुणात्मिका प्रकृति को—देखता है ॥ ६५ ॥

भाष्यम्—ज्ञाने पुरुषः किं करोति ?। तेन=विशुद्धेन केवलज्ञानेन, पुरुषः प्रकृतिं पश्यति, प्रेक्षकवत् प्रेक्षकेण तुल्यम्। अवस्थितः स्वस्थः। यथा रङ्ग-प्रेक्षकोऽवस्थितो नर्त्तकीं पश्यति, स्वस्थः- स्वस्मिंस्तिष्ठति स्वस्थः=स्वस्थानस्थितः। कथंभूतां प्रकृतिम् ?। निवृत्तप्रसवां = निवृत्तबुद्ध्यहङ्कारकार्याम्। अर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्तां, निर्वर्तितपुरुषोभयप्रयोजनवशाद्, यैः सप्तभी रूपैर्धर्मादिभि-रात्मानं बध्नाति, तेभ्यः सप्तेभ्यो रूपेभ्यो विनिवृत्तां प्रकृतिं प्रश्यति ॥ ६५ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[अव्यवहित पूर्व कारिका में विवेकज्ञान का स्वरूप बतलाया गया। सम्प्रति, यह जानने की इच्छा रहती है कि विवेकज्ञान का उदय होने पर ज्ञानी की कैसी स्थिति होती है ? अखिल क्रिया-कलापों के समाप्त हो जाने पर वह तत्त्वज्ञ क्या करता है ? इस जिज्ञासा के समाधानार्थ निम्न कारिका उपस्थित हो रही है]

जिस प्रकार नाट्यशाला में प्रेक्षक रङ्गमञ्च पर गीत, वाद्य तथा नृत्य करती नर्तकी को स्वस्थ होकर अर्थात् निर्विकल्पकभाव से देखता रहता है उसी प्रकार विशुद्ध विवेकज्ञान की महिमा के कारण बाह्य पदार्थों के प्रभाव से रहित, केवल चैतन्यस्वरूप से स्थित योगी 'प्रकृति' का अवलोकन करता रहता है। अब ज्ञानी के दर्शनक्रिया के कर्म (प्रकृति) का स्वरूप बताते हैं—पुरुष के भोगा-

पवर्गरूप प्रयोजन का सम्पादन कर चुकने से जिसने; बुद्धि, अहंकार आदि कार्यों को उत्पन्न करने से विश्राम ले लिया है और जिसने रज्जु की भांति स्वयं को बांधने वाले धर्माधर्मादि सात भावों का शिथलीकरण (अभिभव) कर दिया है, ऐसी प्रकृति को तत्त्वज्ञानी देखता है। कहने का तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञान की अवस्था में ज्ञानी को प्रत्येक क्षण प्रकृति से भिन्न अपने शुद्धस्वरूप का स्फुरण होता रहता है अर्थात् भ्रमाधारित अभेदप्रतीति का आत्यन्तिक रूप से तिरोभाव हो जाता है। इसी को योगशास्त्र में 'अविप्लुतविवेकख्याति' कहा है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने 'स्वस्थः' की जगह 'स्वच्छः' पाठ को शुद्ध माना हैं। अतः उसी के अनुसार राजस तामस वृत्तिरूप मालिन्य से पुरुष की असंपृक्तता (स्वच्छता) बतलाई है।[1] उन्होंने 'निवृत्तप्रसवां' का अर्थ 'प्रकृति के प्रसोतव्य भोगापवर्ग की निवृत्ति' किया है।[2] 'अर्थवशात्' का अर्थ विवेकख्यातिरूप सामर्थ्य कर तत्त्वज्ञान में सप्तरूपविनिवृत्ति की हेतुता कही है।[3] अर्थात् तत्त्वज्ञान को धर्मादि सात भावों का नाशक बतलाया है॥ ६५॥

[विवेकख्याति से सृष्टि-सृजन की अवरुद्धता]

रङ्गस्थ[4] इत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य॥ ६६॥

अन्वयः—एकः [पुरुषः]—मया दृष्टा इति उपेक्षकः, अन्या [प्रकृतिः]—अहं दृष्टा इति उपरमति। [अतः] तयोः [व्यापकप्रकृतिपुरुषयोः] संयोगे सति अपि सर्गस्य प्रयोजनं न अस्ति॥ ६६॥

कारिकार्थः—एक तरफ तत्त्वज्ञानी पुरुष 'मैंने प्रकृति को भलीभांति देख लिया है' यह सोचकर प्रकृति की उपेक्षा करता है। दूसरी तरफ प्रकृति 'पुरुष द्वारा मैं देख ली गई' यह सोचकर (उस ज्ञानी पुरुष से संबन्धित) सृष्टि-व्यापार को समाप्त करती है। अतः व्यापक दोनों तत्त्वों का संयोग (पूर्ववत् एवं सर्वदा) बना रहने पर भी पुनः सृष्टि की अपेक्षा (आवश्यकता) नहीं रहती है॥ ६६॥

भाष्यम्—रङ्गस्थ इति। यथा रङ्गस्थ इत्येवमुपेक्षकः, एकः = केवलः शुद्धः पुरुषस्तेनाहं दृष्टेति कृत्वा उपरता = निवृत्ता एका = एकैव प्रकृतिः, त्रैलोक्यस्यापि

१. स्वच्छः इति रजस्तमोवृत्तिकलुषया बुद्ध्याऽसम्भिन्नः-(सां त० कौ० पृ० २९७)।
२. भोगविवेकसाक्षात्कारौ हि प्रकृतेः प्रसोतव्यौ। तौ च प्रसूताविति नास्याः प्रसोतव्यमवशिष्यत इति निवृत्तप्रसवा प्रकृतिः (सां० त० कौ० पृ० २९७)।
३. विवेकज्ञानरूपो योऽर्थस्तस्य वशः सामर्थ्यं तस्मात्-(सां० त० कौ० पृ० २९७)।
४. दृष्टा मयेति पाठान्तरम्।

प्रधानकारणभूता न द्वितीया प्रकृतिरस्ति, मूर्तिवधे जातिभेदात्। एवं प्रकृतिपुरुषयोर्निवृत्तावपि व्यापकत्वात् संयोगोऽस्ति, न तु संयोगात् कृतः सर्गो भवति सति संयोगेऽपि, तयोः = प्रकृतिपुरुषयोः सर्वगतत्वात् सत्यपि संयोगे, प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य—सृष्टेः चरितार्थत्वात्। प्रकृतेर्द्विविधं प्रयोजनं शब्दविषयोपलब्धिर्गुणपुरुषान्तरोपलब्धिश्च। उभयत्रापि चरितार्थत्वात्—सर्गस्य नास्ति प्रयोजनं येन पुनः सर्ग इति। यथा दानग्रहणनिमित्ते—उत्तमवर्णाधमर्णयोर्द्रव्यविशुद्धौ सत्यपि संयोगे न कश्चिदर्थसम्बन्धो भवति। एवं प्रकृतिपुरुषयोरपि नास्ति प्रयोजनमिति॥६६॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[इकसठवीं कारिका में प्रकृति का साक्षात्कार होने से सर्गनिवृत्ति वाला सिद्धान्त—प्रकृति की अत्यन्त लज्जाशीलता के आधार पर—निर्णीत हो चुका है। प्रस्तुत कारिका में सर्ग के कारण 'प्रकृति-पुरुषसंयोग' के बने रहने पर भी उक्त सिद्धान्त को कैसे क्षति नहीं पहुँचती है ? इसका स्पष्टीकरण किया जा रहा है]

जिस प्रकार बाल्य, यौवन आदि सभी अवस्थाओं में रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत नर्तकी (अभिनेत्री) को भूयोभूयः देखकर प्रेक्षक की उत्कण्ठा समाप्त हो जाती है। उसी प्रकार पहले कभी न देखी गई अतएव जिज्ञासित प्रकृति रूप नारी का सम्यक् रूप से अवलोकन कर कृतकृत्य हुआ पुरुष 'यह मेरे द्वारा दृष्ट (भुक्त) हो चुकी है' ऐसा सोचकर उसकी ओर से मुख मोड़ लेता है अर्थात् निवृत्त हो जाता है। दूसरी तरफ भोग्य 'प्रकृति' पुरुष द्वारा भुक्त हो जाने पर 'पुरुष ने मुझे देख लिया है' अर्थात् मेरा उपभोग कर लिया है' ऐसा सोचकर अपने को कृतकृत्य समझती है। भोग्य पदार्थ की कृतकृत्यता उसके भुक्त होने पर ही है, अन्यथा भोग्य की भोगता व्यर्थ है। इस प्रकार लज्जाशील प्रकृति अपने जीवन को चरितार्थ समझकर उस पुरुष की ओर से पूर्णतः उदासीन (निवृत्त) हो जाती है। अर्थात् अब वह महदादि अलंकारों से अलंकृत होकर पति रूप पुरुष को प्रभावित करने के लिये उसके समक्ष उपस्थित नहीं होती है। इस प्रकार प्रकृति एवं पुरुष दोनों की जिज्ञासा (उत्कण्ठा) समाप्त होने पर दोनों में एक-दूसरे के प्रति वैराग्य (उपेक्षा बुद्धि) जाग्रत हो जाता है। लेकिन यह वैराग्योत्पत्ति दोनों के संयोगात्मक संबन्ध को नष्ट नहीं कर पाती है। व्यापक होने से दोनों का संयोग बना रहना अपरिहार्य है। लेकिन निराकांक्षित हुए दोनों तत्त्वों के 'सामान्य संयोग' से सृष्टि नहीं होती है। सृष्टि के लिये दोनों की साकांक्षता अपेक्षित है। इस प्रकार प्रकृति पुरुष का विशिष्ट संयोग ही संसार का कारण है। अर्थात् सृष्टि जिस उद्देश्य से की जाती है उसके पूर्ण होने पर सृष्टि की आवश्यकता भी नहीं रह

जाती है। अप्राप्त की प्राप्ति के लिये साधन जुटाये जाते हैं न कि प्राप्त वस्तु के लिये। अन्यथा दर्शन की पदावली में 'सिद्धसाधनदोष' समझा जाता है। इस प्रकार विवेकख्याति जिसका उदय दोनों के कृतकृत्य होने पर होता है—प्रकृति पुरुष के विशिष्टसंयोग को नष्ट कर देती है, अतः स्वभावतः बना रहने वाला सामान्यसंयोग निष्फल (निष्प्रयोजन) होता है। जिस प्रकार उत्तमर्ण एवं अधमर्ण का धन के लेन देन के लिये हुआ विशिष्ट संयोग ऋण के चुका देने पर सामान्य (गौण) हो जाता है अर्थात् अर्थसंबंधित न होने से उसका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है। इस प्रकार अपुरुषार्थता को प्राप्त हुए भोगापवर्ग में प्रेरकता न होने से ही यह कहा गया कि—'प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य'। उपर्युक्त वर्णन से यह सिद्ध होता है कि भोग के पश्चात् प्राप्त होने वाली 'विवेकख्याति' में सृष्टि को अवरुद्ध करने का सामर्थ्य है ॥ ६६ ॥

[तत्त्वज्ञान होने पर अनागत शरीरधारण से मुक्ति]

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशाच् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनाम् अकारणप्राप्तौ (सत्यपि) संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवत् धृतशरीरः सन् (तत्त्वज्ञानी) तिष्ठति ॥ ६७ ॥

कारिकार्थः— सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति से (सञ्चित एवं क्रियमाण) धर्माधर्मादि की जन्मान्तरोत्पादक कारणता नष्ट हो जाने पर भी प्रारब्धजनित संस्कारों के सामर्थ्य से—वेगाख्य संस्कार से चक्र के भ्रमण की तरह—शरीर धारण करता हुआ तत्त्वज्ञानी रहता है ॥ ६७ ॥

भाष्यम्—यदि पुरुषस्योत्पन्ने ज्ञाने मोक्षो भवति, ततो मम कस्मान्न भवतीत्यत उच्यते। यद्यपि पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं भवति, तथापि संस्कारवशाद्-धृतशरीरो योगी तिष्ठति। कथम् ? चक्रभ्रमवत् = चक्रभ्रमेण तुल्यम्। यथा कुलालश्चक्रं भ्रमयित्वा घटं करोति मृत्पिण्डं चक्रमारोप्य, पुनः कृत्वा घटं पर्यामुञ्चति चक्रं भ्रमत्येव, संस्कारवशात्, एवं—सम्यग्ज्ञानाधिगमात्—उत्पन्नसम्यग्ज्ञानस्य धर्मादीनामकारणप्राप्तौ एतानि सप्तरूपाणि बन्धनभूतानि सम्यग्ज्ञानेन दग्धानि। यथा नाग्निना दग्धानि बीजानि प्ररोहणसमर्थानि एवमेतानि धर्मादीनि बन्धनानि न समर्थानि। धर्मादीनामकारणप्राप्तौ संस्कारवशाद्धृतशरीरस्तिष्ठति ज्ञानाद्वर्तमानधर्माऽधर्मक्षयः कस्मान्न भवति ?। वर्तमानत्वादेव क्षणान्तरे क्षयमत्येति। ज्ञानं त्वनागतं कर्म दहति; वर्तमानशरीरेण च यत् करोति तदपीति, विहितानुष्ठानकरणादिति, संस्कारक्षयाच्छरीरपाते मोक्षः ॥ ६७ ॥

गौडपाद भाष्य का भावार्थ:—[पीछे, एक तरफ यह कहा गया कि तत्त्वज्ञान (विवेकज्ञान) से पुरुष मोक्ष प्राप्त करता है। मोक्ष का अर्थ 'पुरुष का देहबन्धन से छूटना' है। दूसरी तरफ यह कहा गया कि तत्त्वज्ञान की अवस्था में योगी प्रेक्षक की भांति उदासीनभाव से प्रकृति को देखता रहता है। पुरुष की यह दर्शन-कर्तृता देहाधिष्ठित होकर ही सम्भव है। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों बातों में परस्पर विरोध दिखाई पड़ता है। यदि तत्त्वज्ञान से देहमुक्ति मानी जाय तो देह के न रहने से पुरुष द्वारा प्रकृति का देखना नहीं बन पायेगा और यदि पुरुष के दर्शन-व्यापार के लिये देह की स्थिति मानी जाय तो तत्त्वज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है, यह कहना मनोराज्यमात्र[१] होगा। प्रस्तुत कारिका में आपाततः प्रतीत होते हुए उक्त विरोध को—दोनों के मूल में छिपे हुए गूढ आशय के प्रकाशन द्वारा—दूर किया जा रहा है। आचार्य गौडपाद उक्त शङ्का को ही दृष्टि में रखकर 'ज्ञान उत्पन्न होने पर यदि पुरुष को मोक्ष प्राप्त होता है तो मुझ ज्ञानी को वह तत्क्षण क्यों नहीं प्राप्त हो रहा है' ऐसी संक्षिप्त अवतरणिका प्रस्तुत करते हैं। शङ्का का समाधान इस प्रकार है]

जिस प्रकार अग्नि से दग्ध बीज की अंकुरोत्पादक शक्ति नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार विवेकाग्नि से धर्माधर्मादि की सृष्टिरूप अंकुर को उत्पन्न करने की सामर्थ्य दग्ध की जाती है। यह धर्माधर्मविशिष्ट समूह वह कर्माशयप्रचय है, जो अनादि और अनिश्चित काल से चित्तभूमि में पड़ा रहता है और कालान्तर में न जाने कितने असंख्य जन्मों (जात्यायुर्भोग) को प्रदान करता है। तत्त्वज्ञान का फल आगामी जन्मजन्मान्तर के असंख्य (अपरिमित) देहधारणों से साधक को मुक्त करना है। इस प्रकार की मुक्ति शास्त्र में 'जीवन्मुक्ति' नाम से कही गई है। अब रही यह शङ्का कि तत्त्वज्ञान द्वारा क्या वर्तमान देह से छुटकारा नहीं मिलता है? उत्तर नकारात्मक है। श्रुति स्मृतियों द्वारा यह सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है कि तत्त्वज्ञान में; प्रारब्धकर्म अर्थात् जाति, आयु एवं सुख-दुखभोग रूप फल प्रदान करने में संलग्न (लगे) कर्मों का क्षय करने की, सामर्थ्य नहीं है। भोग द्वारा ही प्रारब्ध कर्म का क्षय होता है। इसलिये योगसाधना अनागत दुःख के ही नाश को लक्ष्य में रखकर की जाती है।[२] तत्त्वज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर भी निश्चित काल पर्यन्त वर्तमान देहधारण अनिवार्य है। इस समय विवेकख्याति रूप सात्विक प्रकाश से युक्त बुद्धि के साथ विवेकी चेतन पुरुष का

---

१. स्वचित्तपरिकल्पितमनोरथविकारा इत्यर्थः।
२. हेयं दुःखमनागतम्-(यो० सू० २।१६)।

मनाक् सम्पर्क रहता है। अतः ज्ञानी का प्रकृति को देख पाना असम्भव नहीं है।

ज्ञानी की उक्त देहस्थिति को स्पष्ट करते हुए आचार्य गौडपाद लिखते हैं, जिसका आशय यह है कि—कुलाल चाक पर मिट्टी को रखकर दण्ड के सहारे चक्र को जोर से घुमाता है और घट के बन जाने पर उसे चाक से उतार लेता है। इस प्रकार घट को प्राप्त कर कृतकृत्य कुलाल इस व्यापार से निवृत्त हो जाता है किन्तु चक्र पूर्व वेगाख्य संस्कार[1] के कारण कुछ देर तक शनैः शनैः घूमता रहता है। वेगाख्य संस्कार के क्षीण होते ही वह भी भ्रमण-क्रिया से मुक्त (निवृत्त) हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी वर्तमान काल में सुख-दुःख का भोग कराने वाले धर्माधर्मरूप संस्कारों का क्षय होने तक शरीर-धारण करता है। अतः ज्ञान के उदित होते ही देहनाश की कल्पना उचित नहीं है। प्रारब्धकर्म का भोग द्वारा क्षय होते ही ज्ञानी शरीर-बन्धन से सर्वदा के लिये छूट जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। शास्त्र में इस मुक्ति को 'विदेहमुक्ति' कहा गया है। निष्कर्ष यह निकला कि तत्त्वज्ञान का साक्षात् फल अनागत शरीर धारण से मुक्ति (जीवन्मुक्ति) दिलाना है और प्रारब्धकर्म के क्षयरूप मध्यवर्ती व्यापार द्वारा परम्परया पूर्णतः मुक्ति (विदेहमुक्ति) दिलाना है ॥ ६७ ॥

[प्रारब्धकर्म के क्षय से विदेहमुक्ति]

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥

अन्वयः—शरीरभेदे प्राप्ते सति चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ (सत्यां तत्त्वज्ञानी) ऐकान्तिकम् आत्यन्तिकम् उभयं कैवल्यम् आप्नोति ॥ ६८ ॥

कारिकार्थः—[प्रारब्धकर्मफलभोग के पश्चात्] शरीर का नाश होने पर कृतकृत्य (पुरुष के प्रति भोगापवर्गरूप प्रयोजन को सिद्ध कर चुकने से) प्रधान का अपने व्यापार से पूर्णतया विराम होने पर ज्ञानी ऐकान्तिक (अवश्यंभावि) एवं आत्यन्तिक (सार्वकालिक) मोक्ष प्राप्त करता है ॥ ६८ ॥

भाष्यम्—स किंविशिष्टो भवतीत्युच्यते। धर्माऽधर्मजनितसंस्कारक्षयात् प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानस्य विनिवृत्तौ ऐकान्तिकम्=अवश्यम्, आत्यन्तिकम्=अन्तर्हितं, कैवल्यम्=केवलभावान्मोक्षः। उभयम्=ऐकान्तिकात्यन्तिकमित्येवं विशिष्टं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥

---

१. वेगस्थितिस्थापकभावनभेदात्संस्कारस्त्रिविधः—मु० पृ० २३५।

गौडपाद भाष्य का भावार्थ:—[गत कारिका में पुरुष की जीवन्मुक्ति के संबन्ध में विचार किया गया और जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति के मध्य की स्थिति पर भी प्रकाश डाला गया। सम्प्रति, क्रमप्राप्त विदेहमुक्ति पर विचार हो रहा है]

विवेकज्ञान का उदय होते ही सूक्ष्मशरीर एवं उसका अधिष्ठानभूत स्थूलशरीर नष्ट नहीं हो जाता है, अपितु उभयविध शरीरों की प्रारब्ध कर्म के भोगपर्यन्त स्थिति रहती है। शरीरों का धृतिकारण धर्माधर्मजनित संस्कारविशेष है। शरीर के स्थितिकारणस्वरूप इन संस्कारों का उपभोग द्वारा क्षय करना ही साधक के लिये अवशिष्ट रहता है। इस प्रकार प्रारब्धकर्मफलभोग की समाप्ति होने पर शरीरक्षय और शरीरक्षय के पश्चात् मोक्ष का क्रम आता है। प्रकृति का पुरुष से सम्बन्ध; पुरुष को भोग एवं भोग के पश्चात् विवेकज्ञान कराके, समाप्त नहीं हो जाता है। प्रकृति वर्तमान देहपातपर्यन्त अपने उभयविध शरीरों के द्वारा पुरुष से सम्पृक्त रहती है। स्थूलशरीर एवं सूक्ष्मशरीर प्रकृति के ही अङ्ग हैं। देहपात के पश्चात् पुरुष को कैवल्य पद पर प्रतिष्ठित करके वह अपने कर्तव्य की पूर्णतः समाप्ति समझती है। इसीलिये कारिका में 'चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ' पदों का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः यही प्रकृति का पुरुषविशेष से मुक्ति प्राप्त करना है।

तत्त्वज्ञानपुरस्सर दुःखनिवृत्तिरूप जो कैवल्य प्राप्त होता है उसकी दो विशेषताएं हैं। एक तो वह शाश्वत अर्थात् नित्य है। अर्थात् एक बार प्राप्त होने पर उस पद से प्रच्युति (रिटायरमैन्ट = अवकाशग्रहण) नहीं होती है। दूसरा यह कि उक्त प्रकार के कैवल्य को प्राप्त करने के लिये उचित ढंग से की गई तत्त्वसाक्षात्कार-विषयक साधना निष्फल नहीं होती है। अर्थात् सांख्यशास्त्र की पद्धति से अवश्य ही कैवल्य प्राप्त होता है। इसे ही कारिका में 'ऐकान्तिक' शब्द से कहा है। 'केवलस्य भावः कैवल्यम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पुरुष का अपने स्वरूप में स्थित होना अर्थात् बुद्धिसम्पर्क से पूर्णतया अलग रहना 'कैवल्य' है ॥ ६८ ॥

[सांख्यशास्त्र का प्रवर्तक]

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥ ६९ ॥

अन्वयः—परमर्षिणा इदं गुह्यं पुरुषार्थज्ञानं समाख्यातम्। यत्र भूतानां स्थिति-उत्पत्ति-प्रलयाः चिन्त्यन्ते ॥ ६९ ॥

कारिकार्थ—महर्षि कपिल द्वारा अत्यन्त रहस्यपूर्ण, मोक्षदायक उपरिवर्णित सांख्यज्ञान कहा गया है। जिस ज्ञान में (ज्ञान के अन्तर्गत) प्रकृति के विकार अर्थात् महदादि कार्य की स्थिति, आविर्भाव तथा तिरोभाव के संबन्ध में विचार किया गया है ॥ ६९ ॥

भाष्यम्—पुरुषार्थः = मोक्षस्तदर्थं ज्ञानमिदं, गुह्यं = रहस्यं, परमर्षिणा= श्रीकपिलर्षिणा समाख्यातं = सम्यगुक्तम्, यत्र ज्ञाने भूतानां = वैकारिकाणां, स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः = अवस्थानाऽऽविर्भावतिरोभावाः, चिन्त्यन्ते = विचार्यन्ते, येषां विचारात् सम्यक् पञ्चविंशतितत्त्वविवेचनात्मिका सम्पद्यते संवित्तिरिति ॥६९॥

सांख्यं कपिलमुनिना प्रोक्तं संसारविमुक्तिकारणम् हि ।
यत्रैताः सप्ततिरार्या भाष्यं चात्र गौडपादकृतम् ॥

इति सांख्यकारिकायां गौडपादकृतं भाष्यं समाप्तम्

गौडपाद भाष्य का भावार्थः—[प्रस्तुत कारिका में आचार्य ईश्वरकृष्ण सांख्यशास्त्र का उपसंहार करते हुए उसके आदिकर्ता की ओर इंगित करते हैं]

सांख्यशास्त्र अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। अर्थात् रहस्यमय होने से वह स्थूलबुद्धि वालों के लिये दुरधिगम (दुर्विज्ञेय) है। प्रत्येक व्यक्ति दुःख से छुटकारा चाहता है। अतः प्राणियों के अभीष्टतम आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष को प्रदान करने वाले विशिष्टज्ञान का यह शास्त्र 'आगार' है। इस विशिष्टज्ञान के आदि उपदेष्टा महर्षि कपिल हैं। उन्होंने सांख्य के सिद्धान्त सूत्रात्मक-शैली में लिखे। इसमें भूतों की स्थिति, उत्पत्ति एवं प्रलय पर चिन्तन किया गया है ॥ ६९ ॥

महर्षि कपिल ने संसार से मोक्ष दिलाने वाले सांख्यशास्त्र का निर्माण किया। उस पर (उपरिवर्णित) ये सत्तर आर्याएं (आर्या छन्द में लिखी कारिकाएं) आचार्य ईश्वरकृष्ण की हैं और उन पर मुझ गौडपाद ने भाष्य किया है।

इस प्रकार सांख्यकारिका के गौडपादभाष्य का भावार्थ समाप्त होता है।

[शिष्य-परम्परा]

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥७०॥

अन्वयः—मुनिः अनुकम्पया अग्र्यं पवित्रम् एतत् आसुरये प्रददौ, आसुरिरपि पञ्चशिखाय, तेन च तन्त्रं बहुधा कृतम् ॥ ७० ॥

कारिकार्थः—महर्षि कपिल ने दयावशात् अनादि काल से चले आने वाला श्रेष्ठ, अत्यन्त पवित्र यह सांख्यज्ञान आसुरि (नाम के अपने शिष्य) को दिया। आसुरि ने भी पञ्चशिख (नाम के अपने शिष्य) को दिया और पञ्चशिखाचार्य ने इस शास्त्र का (शिष्य परम्परा द्वारा) बहुत प्रचार किया ॥ ७० ॥

[शिष्य-परम्परा]

शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥७१॥

अन्वयः—शिष्यपरम्परया आगतम् एतत् आर्यमतिना ईश्वरकृष्णेन सिद्धान्तं सम्यग् विज्ञाय आर्याभिः संक्षिप्तम् ॥ ७१ ॥

कारिकार्थः—शिष्य-परम्परा से प्राप्त इस सांख्यज्ञान को तत्त्वज्ञानी ईश्वरकृष्ण ने सांख्यसिद्धान्त का संशय, विपर्यय तथा विकल्प से रहित ज्ञान प्राप्त कर आर्या छन्द में संगृहीत किया ॥ ७१ ॥

[उपसंहार]

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥७२॥

अन्वयः—सप्तत्याम् आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ये अर्थाः (सन्ति) ते कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य अर्थाः सन्ति किल ॥ ७२ ॥

कारिकार्थः—सत्तर कारिकाओं के द्वारा प्रतिपादित इस सांख्यीय तत्त्वज्ञान के प्रबन्ध में ऋषि आदियों के वंश चरितादि की कथाओं से रहित तथा परमत के खण्डन से भी रहित जो पच्चीस पदार्थ निरूपित किये गये हैं, वे षष्टितन्त्रनामक ग्रन्थ के पदार्थ निश्चित रूप से हैं ॥ ७२ ॥

(इन तीन कारिकाओं का गौडपाद भाष्य उपलब्ध नहीं है)

[इति गौडपादभाष्यभावार्थ-बोधिका-समेता सांख्यकारिका समाप्ता]

इति सांख्यकारिका समाप्ता ।

प्रथम परिशिष्ट

सांख्यकारिका

दुःखत्रयाभिघातज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥ १ ॥
दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ २ ॥
मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३ ॥
दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ ४ ॥
प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥ ५ ॥
सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्सिद्धम् ॥ ६ ॥
अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥ ७ ॥
सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ॥ ८ ॥
असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ ९ ॥
हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ १० ॥
त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ ११ ॥
प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ १२ ॥
सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टं उपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥

अविवेक्यादेः सिद्धिः त्रैगुण्यात तदविपर्ययाभावात् ।
कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥ १४ ॥
भेदानां परिमाणात समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य ॥ १५ ॥
कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥ १६ ॥
संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १७ ॥
जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ १८ ॥
तस्माच्च विपर्यासात सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥
तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥
पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥
प्रकृतेर्महास्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ २२ ॥
अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥ २३ ॥
अभिमानोऽहंकारः तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥ २४ ॥
सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात् ।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥
बुद्धीन्द्रियाणि चक्षु श्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥
उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात् ।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥
रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥ २८ ॥

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ २९ ॥
युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा ।
दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम् ।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् ॥ ३१ ॥
करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।
कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥ ३२ ॥

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ ३३ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि ।
वाग् भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ॥ ३४ ॥

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥ ३५ ॥
एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥
तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ ३८ ॥

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः ।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥
पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ ४० ॥

चित्रं यथाऽऽश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया ।
तद् वद् विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ ४१ ॥

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥ ४२ ॥

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्याः ।
दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥ ४३ ॥

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥
वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद् रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥ ४५ ॥

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ॥ ४६ ॥

पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात् ।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥ ४७ ॥

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः ।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥ ४८ ॥

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धिनाम् ॥ ४९ ॥
आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥ ५० ॥

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः ।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥ ५१ ॥

न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः ।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ॥ ५२ ॥

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुषकश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥ ५३ ॥
ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ ५४ ॥
तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥ ५५ ॥

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥ ५६ ॥

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ ५७ ॥

औत्सुक्यविनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः ।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८ ॥

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथाऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥ ५९ ॥
नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकञ्चरति ॥ ६० ॥
प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ ६१ ॥
तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ ६२ ॥
रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥
एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥
तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः ॥ ६५ ॥
दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥ ६६ ॥
सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ॥ ६७ ॥
प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥
पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥ ६९ ॥
एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥ ७१ ॥
शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥ ७१ ॥
सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥ ७२ ॥

इति श्रीमदीश्वरकृष्णविरचिता सांख्यकारिका
समाप्ता

द्वितीय परिशिष्ट

सांख्यकारिकानुक्रमणिका

तृतीय परिशिष्ट

प्रश्न-सूची

प्रश्न—

१. दुःख के भेद तथा उसके स्वरूप पर प्रकाश डालिये।

२. दुःखत्रय नाश के लिये व्यक्ति क्यों प्रयत्नशील रहता है ?

३. सांख्य में प्रतिपादित दुःखनाश के उपायों की मीमांसा कीजिये।

४. लौकिक तथा कर्मकाण्डपरक वैदिक उपाय दुःखनाश के लिये क्यों अनुपादेय बताये गये हैं ?

५. ज्ञानपरक सांख्यमार्ग में दुःखनाश के प्रति ऐसी कौन सी विशिष्टता है, जिससे सांख्यमार्ग को उपादेय बताया गया है ?

(प्रश्न १ से ५, उत्तर—का० सं० १ तथा २)

६. सांख्यसम्मत पदार्थों की कौन सी चार कोटियाँ हैं—यह बतलाते हुए उनके नामकरण का स्वारस्य स्पष्ट कीजिये। (उत्तर का० सं० ३)

७. त्रिविध प्रमाणों में 'प्रत्यक्ष' का स्थान सर्वप्रथम क्यों है ? क्या निर्धारित प्रमाण-क्रम में क्रम-भंग युक्तियुक्त है ? (उत्तर का० सं० ४ का पूर्वार्द्ध)

८. प्रमाणकी आवश्यकता क्यों है यह बतलाते हुए उसके भेदों पर प्रकाश डालिये।

(उत्तर का० सं० ४, ५, ६)

९. पदार्थ का प्रत्यक्ष न होने में कौन से कारण हैं ? (उत्तर का० सं० ७)

१०. किस कारण प्रकृति का प्रत्यक्ष नहीं होता। यह बतलाते हुए प्रकृति की उपलब्धि कैसे होती है, इसे विस्तारपूर्वक स्पष्ट कीजिये।

(उत्तर का० सं० ८ का पूर्वार्द्ध)

११. प्रकृति के कार्य महदादि 'सरूप' और 'विरूप' क्यों कहे जाते हैं ? स्पष्ट कीजिये।

(उत्तर का० सं० ८ का उत्तरार्द्ध)

१२. सत्कार्यवाद का अर्थ बतलाते हुए उसके पोषक हेतुओं पर प्रकाश डालिये।

(उत्तर का० सं० ९)

१३. सांख्य को सत्कार्यवाद क्यों मान्य है ? स्पष्ट कीजिये। (उत्तर का० सं० ९)

१४. व्यक्ताव्यक्त के साधारण एवं असाधारण धर्मों को बतलाते हुए उनकी समीक्षा कीजिये। (उत्तर का० सं० १०, ११)

१ . क्या पुरुष में व्यक्ताव्यक्त के सभी धर्म उपलब्ध होते हैं, यदि व्यक्ताव्यक्त के सभी धर्म पुरुष में मान लिये जांय तो क्या क्षति होगी ?

(उत्तर का० सं० ११ का उत्तरार्द्ध)

१६. पुरुष के धर्मों की मीमांसा दीजिये। (उत्तर का० सं० १०, ११, ११)

१७. क्या गुण प्रकृति से भिन्न हैं ? यह बतलाते हुए उनके स्वरूप पर प्रकाश डालिये।

१८. क्या गुण परस्पर अत्यन्त विरोधी हैं ? यह बतलाते हुए उनकी व्यापार विधाओं को स्पष्ट कीजिये।

१९. जगत् त्रिगुणात्मक क्यों और कैसे है, स्पष्ट कीजिये।

(प्रश्न १७ से १९, उत्तर का० सं० १२, १३, १४)

२०. 'अव्यक्त' है, इसे सप्रमाण सिद्ध कीजिये। (उत्तर का० सं० १५)

२१. अव्यक्त की साम्यावस्था और वैषम्यावस्था से आप क्या समझते हैं। क्या इन दोनों अवस्थाओं को मानना अपरिहार्य है ? (उत्तर का० सं० १६)

२२. पुरुष के बिना ही प्रकृति-व्यापार चले, पुरुष को क्यों माना जाय ? स्पष्ट कीजिये। (उत्तर का० सं० १७)

२३. पुरुष का अस्तित्व सिद्ध करते हुए प्रकृति-व्यापार में उसका योगदान बतलाइये। (उत्तर का० सं० १७)

२४. पुरुष के एकत्व से यदि संसार-व्यवस्था चल सके तो पुरुषनानात्ववाद की गौरवपूर्ण पद्धति क्यों अपनाई जाय ? क्या पुरुष का बहुत्व मानना अपरिहार्य है ? (उत्तर का० सं० १८)

२५. बुद्धि-पुरुष के संयोग का प्रभाव एक दूसरे पर किस प्रकार पड़ता है ?

(उत्तर का० सं० २०)

२६. प्रकृति-पुरुष का संयोग क्या उभयसापेक्ष है ? यदि हाँ तो इसे लौकिक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कीजिये। (उत्तर का० सं० २१)

२७. तात्त्विक सृष्टि-क्रम को सप्रमाण सिद्ध कीजिये। (उत्तर का० सं० २२)

२८. बुद्धि की विशिष्ट वृत्ति को बतलाते हुए उसके धर्मों पर प्रकाश डालिये।

(उत्तर का० सं० २३)

२९. अहंकार की विशिष्ट वृत्ति बतलाते हुए उससे उत्पन्न पदार्थों को गिनाइये।

(उत्तर का० सं० २४, २५)

३०. ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय एवं मन के विषय में अपने विचार व्यक्त कीजिये।

(उत्तर का० सं० २६, २७, २८)

३१. सामान्य और असामान्य करणवृत्ति से आप क्या समझते हैं ? सामान्यकरण-वृत्तियाँ कौन सी हैं ? (उत्तर का० सं० २९)

३२. दृष्ट एवं अदृष्ट पदार्थ के प्रत्यक्ष की प्रक्रिया क्या है ? (उत्तर का० सं० ३०)

३३. करणों की प्रवृत्ति का चरम प्रयोजन क्या है ? (उत्तर का० सं० ३१)

३४. त्रयोदश करण तथा उनके कार्यों का वर्गीकरण कीजिये।

(उत्तर का० सं० ३२)

३५. त्रयोदश कार्यों को हम कितने भागों में विभक्त कर सकते हैं, क्या सभी करणों की तीनों काल के विषयों में प्रवृत्ति होती है ? स्पष्ट कीजिये।

(उत्तर का० सं० ३३)

३६. करणों में सर्वप्रधान करण कौन है और क्यों है, स्पष्ट कीजिये।
(उत्तर का० सं० ३४, ३०, ३६, ३७)

३७. तीन करण 'द्वारि' तथा दश करण 'द्वार' हैं—इससे आप क्या समझते हैं।
(उत्तर का० सं० ३५ उत्तरार्द्ध)

३८. सांख्य में 'विशेष' और 'अविशेष' किसे कहते हैं। इस वर्गीकरण का क्या आधार है? (उत्तर का० सं० ३८)

३९. स्थूल एवं सूक्ष्मशरीर के घटक तत्त्वों पर प्रकाश डालिये।
(उत्तर का० सं० ३९, ४०)

४०. क्या सूक्ष्मशरीर की स्थिति के लिये स्थूलशरीर आवश्यक है?
(उत्तर का० सं० ४१)

४१. सूक्ष्मशरीर को सप्रमाण सिद्ध कीजिये। (उत्तर का० सं ४०, ४१, ४२)

४२. धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य तथा अनैश्वर्य से किस-किस की प्राप्ति होती है, प्रकाश डालिये। (उत्तर का० सं० ४३, ४४, ४५)

४३. 'प्रत्ययसर्ग' से आप क्या समझते हैं। इसके भेद-प्रभेदों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालिये। (उत्तर का० सं० ४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२)

४४. तुष्टि और सिद्धि से आप क्या समझते हैं, क्या ये मोक्ष के लिये उपयोगी हैं?
(उत्तर का० सं० ५०, ५१)

४५. कितने प्रकार के 'सर्ग' हैं। (उत्तर का० सं० ५३)

४६. 'प्रधान की प्रवृत्ति स्वाभाविक है' इसे लौकिक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कीजिये।
(उत्तर का० सं० ५७, ५८)

४७. प्रकृति किस दशा में निवृत्त होती है। (उत्तर का० सं० ५९, ६०, ६१)

४८. क्या पुरुष का बन्ध और मोक्ष वास्तविक है? इसे पुरुष का वास्तविक मानने में क्या क्षति है? (उत्तर का० सं० ६२)

४९. प्रकृति के बन्ध-मोक्ष की मान्यता को स्पष्ट कीजिये।
(उत्तर का० सं० ६२, ६३)

५०. विवेकज्ञान के पश्चात् शरीर की स्थिति कब तक रहती है, स्पष्ट कीजिये।
(उत्तर का० सं० ६७)

५१. कैवल्य का स्वरूप क्या है—स्पष्ट कीजिये।
(उत्तर का० सं० ६४, ६५, ६६, ६८)

५२. सांख्यज्ञान के उपदेष्टा और उनकी शिष्य परम्परा पर प्रकाश डालिये।
(उत्तर का० सं० ६९, ७०, ७१)

५३. सांख्य के षष्टि पदार्थ कौन से हैं—स्पष्ट कीजिये। (उत्तर का० सं० ७२)

चतुर्थ परिशिष्ट

चित्रपट–सूची

(१)

(२)

(३)
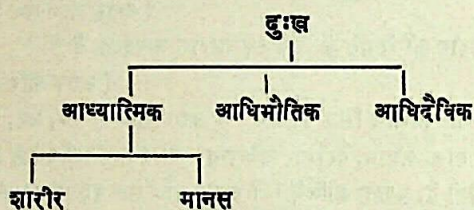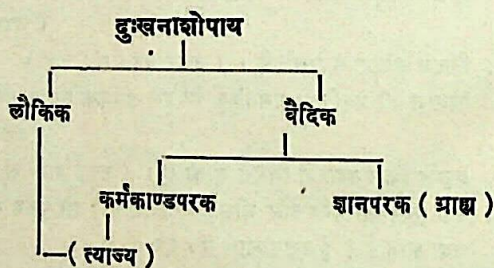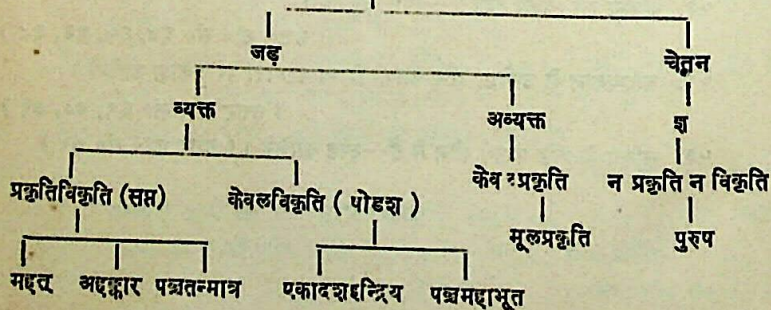
(४)

प्रमाण
प्रत्यक्ष (दृष्ट)
अनुमान
शब्द (आगम)
वीत
अवीत
पूर्ववत्
सामान्यतोदृष्ट
अन्वयव्याप्तिमूलक
शेषवत्
व्यतिरेकव्याप्तिमूलक

(५)

प्रत्यक्ष-विघटक
अतिदूर
सामीप्य
इन्द्रियघात
मनोऽनवस्थान
सूक्ष्मता
व्यवधान
अभिभव
समानाभिहार

(६)

प्रकृति के कार्य
सरूप (सजातीय)
धर्म
विरूप (विजातीय)
धर्म
त्रिगुण
अविवेकि
विषय
सामान्य
अचेतन
प्रसवधर्मि
हेतुमत्
अनित्य
अव्यापि
सक्रिय
अनेक
आश्रित
लिङ्ग
सावयव
परतन्त्र

(७)

सत्कार्य-हेतु
असदकरण
उपादानग्रहण
सर्वसम्भवाभाव
शक्तशक्यभाव
कारणभाव

(८) धर्म
साधारण
असाधारण
व्यक्त
अव्यक्त
व्यक्त
अव्यक्त
ज्ञ
त्रिगु. णत्व
अविवे. कित्व
विष. यत्व
सामा. न्यत्व
अचेत. नत्व
प्रसवध. र्मित्व
व्यक्ताव्यक्त के साधारणधर्मों से रहित
अव्यक्त के असाधारण धर्म एकत्व को छोड़कर सभी धर्म
हेतु. मत्त्व
अनि. त्यत्व
अव्या. पित्व
सक्रि. यत्व
अने. कत्व
आश्रि. तत्व
लिङ्ग. त्व
सावय. वत्व
परत. न्त्रत्व
अहेतु. मत्त्व
नित्य. त्व
व्याप. कत्व
निष्क्रि. यत्व
एक. त्व
अनाश्रि. तत्व
अलि. ङ्गत्व
निरव. यवत्व
स्वत. न्त्रत्व
(९)
गुण
सत्त्व
रजस्
तमस्
स्वरूप
प्रीति
अप्रीति
विषाद
प्रयोजन
प्रकाश
प्रवृत्ति
नियमन
व्यापार
अन्योन्याभिभव
अन्योन्याश्रय
अन्योन्यजनन
अन्योन्यमिथुनवृत्ति
अवस्था
साम्यावस्था (प्रलय)
वैषम्यावस्था (सृष्टि)

(१०)

गुण

- सरूप (प्रलय)
- विरूप (सृष्टि)
  - पुरुष + प्रकृति (गुण)
    - महत् (बुद्धि)
      - अहङ्कार
        - वैकृत (सात्त्विक)
        - तैजस (राजस)
        - भूतादि (तामस)

वैकृत (सात्त्विक) + तैजस (राजस) → एकादश इन्द्रिय

- ज्ञानेन्द्रिय — चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वक्
- कर्मेन्द्रिय — वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ
- मन

तैजस (राजस) + भूतादि (तामस) → पञ्चतन्मात्राएँ

- शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध
  - महाभूत — आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी

(११)

(१२)

करण

(त्रैकालिक) विषय आन्तर (द्वारि) — (द्वार) बाह्य (वर्तमानकालिक) विषय

आन्तर: बुद्धि अहंकार मन

बाह्य: ज्ञानप्रधान — चक्षु श्रोत्र घ्राण रसना त्वक्; कर्मप्रधान — वाक् पाणि पाद पायु उपस्थ

असामान्य वृत्ति: शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध वचन आदान गमन मलत्याग रमण

वृत्ति

सामान्य: प्राण अपान व्यान उदान समान

असामान्य: अध्यवसायात्मिका (बुद्धि) अहंकारात्मिका (अहंकार) अभिमानात्मिका (मन)

प्रत्यक्ष प्रक्रिया: युगपत् अयुगपत्

(१४)
शरीर (भौतिक)
स्थूल
सूक्ष्म
अवयव
षट्-कोशात्मक
अष्टदशतत्त्वात्मक
मातृज
पितृज
महत्
अहंकार
एकादश. इ.
पञ्चतन्मात्र
रोम रुधिर मांस
स्नायु अस्थि मज्जा
पञ्चमहाभूत
पञ्चज्ञानेन्द्रिय
पञ्चकर्मेन्द्रिय
मन
शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध
चक्षु श्रोत्र घ्राण रसना त्वक्
वाक् पाणि पाद पायु उपस्थ

(१५)
सर्ग
प्रत्ययसर्ग
भौतिकसर्ग
दैव
तैर्यक्
मानुष
ब्राह्म
प्राजापत्य
ऐन्द्र
पैत्र
गान्धर्व
याक्ष
राक्षस
पैशाच
पशु
मृग
पक्षी
सरीसृप
स्थावर
मनुष्य
विपर्यय
अशक्ति
तुष्टि
सिद्धि
तम
(अविद्या)
मोह
(अस्मिता)
महामोह
(राग)
तामिस्र
(द्वेष)
अन्धतामिस्र
(अभिनिवेश)
इन्द्रियवध
बुद्धिवध
आन्तर
बाह्य
अष्टविध
अष्टविध
दशविध
अष्टादशविध
अष्टादशविध
पञ्चज्ञा. पञ्चकर्मे. मन.
तुष्टि
सिद्धि
प्रकृति उपादान काल भाग्य
(अम्भ) (सलिल) (ओघ)(वृष्टि)
प्रकृति महत् अहंकार पञ्चतन्मात्र
दिव्य अदिव्य
५ + ५
तामिस्रवत्
पदार्थविषयक
अन्धतामिस्र
का
कुण्ठितरूप
(११)
का
कुण्ठितरूप
(१७)
पार सुपार पारपार अनुत्तमाम्भ उत्तमाम्भ
विषयक तम
(आत्मभावना)
शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध
विषयक महामोह
ऊह शब्द अध्ययन त्रिविधदुःखाभाव सुहृत्प्राप्ति दान
ऊह शब्द अध्ययन त्रिविधदुःखाभाव सुहृत्प्राप्ति दान
आध्यात्मिक
आधिदैविक
आधिभौतिक
ऐश्वर्यविषयक मोह
दिव्य + अदिव्य
शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध
अणिमा
महिमा
गरिमा
प्राप्ति
प्राकाम्य
ईशित्व
वशित्व
यत्रकामावसायित्व
विषयक तामिस्र

(१६)

बन्ध-मोक्ष
वास्तविक
(प्रकृति)
का
औपाधिक
(पुरुष)
का

(१७)

मुक्ति
जीवन्मुक्ति
विदेहमुक्ति

(१८)

षष्टि पदार्थ
प्रकृति
पुरुष
प्रकृति-पुरुष
स्थूल-सूक्ष्मभूत
एकत्व
अर्थवत्त्व
परार्थता
अस्तित्व
योग
वियोग
अन्यत्व
अकर्तृत्व
बहुत्व
स्थिति
पञ्चविपर्यय
२८ अशक्ति
नवतुष्टि
अष्टसिद्धि

पञ्चम परिशिष्ट
पारिभाषिक शब्दकोष

अचेतन—स्वप्रकाशस्वरूप चेतनतत्त्व 'पुरुष' से भिन्न अनवभासक तत्त्व ['व्यक्त' तथा 'अव्यक्त'] को 'अचेतन' कहते हैं।

अध्यवसाय—बुद्धि [महत्] की 'निश्चयात्मिका वृत्ति' को 'अध्यवसाय' कहते हैं।

अन्तःकरण—मन, बुद्धि एवं अहंकार का सामूहिक नाम 'अन्तःकरण' है।

अपवर्ग—आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति को 'अपवर्ग' कहते हैं।

अपान—मूत्र, पुरीष आदि को नीचे ले जाने वाली वायु 'अपान' कहलाती है।

अभिमान—'अहंकार' की 'अहम्' = मैं [मेरे अतिरिक्त कोई अन्य इसका अधिकारी नहीं है] इत्याकारिका वृत्ति = व्यापार को 'अभिमान' कहते हैं।

अलिङ्ग—जिसका लय नहीं होता है, उसे 'अलिङ्ग' कहते हैं। जैसे—प्रकृति।

अविकृति—विकृति अर्थात् कार्यता जिसमें उपलब्ध नहीं होती है, अर्थात् जो किसी का कार्य नहीं, एकमात्र कारण है, उसे 'अविकृति' कहते हैं। जैसे—प्रकृति।

अविद्या—बुद्धि की तामस वृत्ति; जो 'भाव' पदार्थ है 'ज्ञानाभाव' रूप नहीं, को 'अविद्या' कहते हैं। इसे 'तम' भी कहा जाता है।

अविशेष—शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध संज्ञक सूक्ष्म पञ्चतन्मात्र 'अविशेष' कहे जाते हैं। अथवा शान्तत्व, घोरत्व तथा मूढत्व की अभिव्यक्ति न होने से तन्मात्राएँ 'अविशेष' कही जाती हैं।

अवीत—व्यतिरेकव्याप्तिमूलक अनुमान को 'अवीत' कहते हैं।

अव्यक्त—रूपादि से हीन 'मूलप्रकृति' चक्षुरादि का विषय न होने के कारण 'अव्यक्त' कही जाती है। अथवा अङ्गभाव को अप्राप्त निर्लिखित विशेष गुणों की अवस्थिति को 'अव्यक्त' कहते हैं।

अव्यक्त-धर्म—अहेतुमत्त्व, नित्यत्व, व्यापकत्व, निष्क्रियत्व, एकत्व, अनाश्रितत्व, अलिङ्गत्व, निरवयवत्व तथा स्वतन्त्रत्व—ये नौ 'अव्यक्त-धर्म' कहे जाते हैं।

अशक्ति—इन्द्रियादि करणों का असामर्थ्य; जिसे 'वध' भी कहते हैं, 'अशक्ति' कहलाता है।

अशक्ति-भेद—मनसहित दश बाह्य करणों की विकलता से एकादश 'इन्द्रियवध' तथा बुद्धि वैकल्य से नव तुष्टि तथा अष्ट सिद्धि का अभावरूप सप्तदश 'बुद्धिवध'—ये अट्ठाईस 'अशक्ति-भेद' कहे जाते हैं। मन्दता, अन्धता, बधिरता, अजिघ्रता, कुण्ठता, मूकता, कौण्य, पङ्गुता, क्लैब्य तथा उदावर्त—ये एकादश 'इन्द्रियवध' से उत्पन्न अशक्तियाँ हैं। प्रकृतिविपरीतता, उपादानविपरीतता, कालविपरीतता, भाग्यविपरीतता, पारविपरीतता, सुपारविपरीतता, परापारविपरीतता, अनुत्तमांभ-विपरीतता, उत्तमांभ-

विपरीतता, अध्ययनविपरीतता, शब्दविपरीतता, ऊहविपरीतता, सुहृत्प्राप्तिविपरीतता, दानविपरीतता, आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक-त्रिविध-दुःखनाशविपरीतता—ये सत्रह 'बुद्धिवध' से जन्य अशक्तियाँ हैं।

अष्ट—सांख्य में प्रकृतियाँ और सिद्धियाँ 'अष्ट' हैं। पञ्चतन्मात्र, अहंकार, बुद्धि तथा मूल-प्रकृति को 'अष्ट-प्रकृतियाँ' कहते हैं। तथा अध्ययन, शब्द, ऊह, सुहृत्प्राप्ति, दान एवं त्रिविधदुःखनाश को 'अष्टसिद्धियाँ' कहते हैं।

अस्मिता—सत्त्व-पुरुष की अभेद व्यवस्थापिका वृत्ति; जो अविद्यामूलक है, को 'अस्मिता' कहते हैं। इसे 'मोह' भी कहा जाता है।

अस्मिता-भेद—अणिमादि (अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व तथा ईशित्व) अष्ट सिद्धिविषयिणी अभिमानात्मिका वृत्तियाँ (अणिमादि मेरे सदातन ऐश्वर्य हैं)—'अस्मिता-भेद' कहलाती हैं।

अहङ्कार—बुद्धि (महत्) का कार्य तथा अभिमानात्मिका वृत्ति वाला पदार्थ; जिसके 'वैकारिक', 'तैजस' तथा 'भूतादि' तीन भेद हैं, 'अहङ्कार' कहलाता है।

आत्यन्तिक—जिसका विनाश नहीं होता, उसे 'आत्यन्तिक' कहते हैं।

आनुश्रविक—कर्मकाण्डपरक वैदिक प्रक्रिया को 'आनुश्रविक' कहते हैं।

आप्त—असन्दिग्ध यथार्थमान् यथार्थवक्ता 'आप्त' कहलाता है।

इन्द्रिय—सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न प्रत्यगात्मा के अनुमापक तत्त्व को 'इन्द्रिय' कहते हैं।

इन्द्रिय-भेद—पञ्च ज्ञानेन्द्रिय (बुद्धीन्द्रिय), पञ्च कर्मेन्द्रिय तथा उभयात्मक मन—ये एकादश 'इन्द्रिय-भेद' कहे जाते हैं।

इन्द्रिय-वध—एकादश इन्द्रियों की असमर्थता को 'इन्द्रिय-वध' कहते हैं।

इन्द्रिय-वृत्ति—इन्द्रिय के व्यापार को 'इन्द्रिय-वृत्ति' कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियों की रूपादि विषयों की आलोचनमात्र-वृत्ति है। तथा कर्मेन्द्रियों की वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग तथा आनन्द-वृत्ति है।

उभयात्मक मन—अहंकार का परिणामभूत संकल्पात्मक तत्त्व 'मन' कहलाता है। ज्ञानेन्द्रियों का प्रवर्तक होने से ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों का प्रवर्त्तक होने से कर्मेन्द्रिय कोटिक मन 'उभयात्मक' कहलाता है।

ऐकान्तिक—अवश्यंभावि को 'ऐकान्तिक' कहते हैं।

ऐश्वर्य—अप्रतिघातलक्षणक आठ शक्तियाँ 'ऐश्वर्य' कहलाती हैं।

करण—आहार्य, धार्य और प्रकाश्य रूप कार्य की साधनभूत कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण (मन, बुद्धि तथा अहंकार)—ये त्रयोदश 'करण' कहे जाते हैं।

करण-व्यापार—कर्मेन्द्रियों का 'आहरण', ज्ञानेन्द्रियों का 'धारण' तथा अन्तःकरण का 'प्रकाश'—ये तीन 'करण-व्यापार' कहलाते हैं।

कार्य—कारण की सूक्ष्म से स्थूल अवस्था की अभिव्यक्ति होना 'कार्य' कहलाता है।

केवल-विकृति—कार्य को 'विकृति' कहते हैं। जो एकमात्र कार्यरूप है, कारणरूप नहीं उसे 'केवल-विकृति' कहते हैं। दर्शन की पदावली में तत्त्वान्तरोपादान-शून्य पदार्थ 'केवलविकृति' कहलाता है। जैसे—एकादश इन्द्रिय तथा पञ्चमहाभूत।

केवल-प्रकृति—जो साक्षात् तथा परम्परया कारण ही होता है, कार्य नहीं, उसे 'केवल-प्रकृति' कहते हैं। जैसे मूलप्रकृति।

कैवल्य—पुरुष के औपाधिक भोग का ऐकान्तिक नाश (मोक्ष) 'कैवल्य' कहलाता है।

कोष—सूक्ष्म शरीर के आवेष्टक लोम, रुधिर, मांस, अस्थि, स्नायु तथा शुक्र—ये छह 'कोष' कहलाते हैं।

गुण—सत्त्व, रजस् तथा तमस् को 'गुण' कहते हैं। ये गुणत्रय न्याय के रूप, रस, गन्ध आदि चौबीस गुणों की भांति द्रव्याश्रित नहीं, अपितु द्रव्यात्मक हैं। यही सांख्य तथा न्याय के गुणों में मौलिक भेद है।

जन्म—संघातविशिष्ट अपूर्व देह, इन्द्रिय, मन, अहंकार, बुद्धि तथा वेदना के साथ पुरुष का अभिसंबन्ध 'जन्म' कहलाता है।

जीवन्मुक्ति—पुरुष के स्वस्वरूप के यथार्थ अपरोक्ष ज्ञान की अवस्था को 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं।

तन्मात्र—'प्रकृति-विकृति' कोटिक शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध संज्ञक सूक्ष्मभूतों को 'तन्मात्र' कहते हैं। वेदान्तियों ने जिन पञ्चीकृत भूतों को 'सूक्ष्मभूत' कहा है तथा न्यायवैशेषिकों ने 'परमाणु' नाम से व्यवहृत किया है, वे ही सांख्य में 'तन्मात्र' कहे जाते हैं।

तिर्यग्योनिसर्ग—पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप तथा स्थावर-भेद से पांच प्रकार का 'तिर्यग्योनिसर्ग' कहलाता है।

तुष्टि—सन्तोष को 'तुष्टि' कहते हैं।

तुष्टि-भेद—नौ 'तुष्टि-भेद' हैं। ये दो खण्डों में वर्गीकृत हैं—आध्यात्मिक तथा बाह्य। प्रकृति से भिन्न आत्मा के विषय में अध्यवसायात्मिका जो सन्तोष वृत्तियाँ हैं; उन्हें 'आध्यात्मिक (आभ्यन्तर) तुष्टि' कहते हैं। प्रकृति, उपादान, काल तथा भाग्य—ये चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ हैं। इनका दूसरा नाम अम्भ, सलिल, मेघ तथा वृष्टि है। शब्दादि पञ्च बाह्य विषयों की ओर से जो सन्तोष उत्पन्न होता है, उसे 'बाह्य तुष्टि' कहते हैं। इसमें विषयों के प्रति अर्जन, रक्षण, क्षय, भोग तथा हिंसा—दोष दिखाई पड़ते हैं।

दैवसर्ग—ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस तथा पैशाच—यह आठ प्रकार का 'दैवसर्ग' कहलाता है।

निःश्रेयस—मोक्ष को 'निःश्रेयस' कहते हैं।

निर्विकल्पक—वस्तु के स्वरूपमात्र के ग्राहक प्रमाण को 'निर्विकल्पक' कहते हैं।

परिणाम—अवस्थित द्रव्य के पूर्व धर्म की निवृत्ति होने पर जो धर्मान्तर की अभिव्यक्ति होती है, उसे 'परिणाम' कहते हैं।

परिणाम-भेद—धर्म, लक्षण तथा अवस्था भेद से तीन प्रकार का 'परिणाम-भेद' कहलाता है।

पुरुष—आत्मा को 'पुरुष' कहते हैं।

पुरुष-धर्म—अत्रिगुणत्व, विवेकित्व, अविषयत्व, असामान्यत्व, चेतनत्व, अप्रसवधर्मित्व, कारणशून्यत्व, नित्यत्व, व्यापकत्व, निष्क्रियत्व, अनाश्रितत्व, अलिङ्गत्व, निरवयवत्व, स्वतन्त्रत्व, नानात्व, साक्षित्व, द्रष्टृत्व, केवलत्व, मध्यस्थत्व तथा अकर्तृत्व—ये बीस 'पुरुष-धर्म' कहलाते हैं।

प्रकृति-विकृति—कारण को 'प्रकृति' तथा कार्य को 'विकृति' कहते हैं। जिस पदार्थ में तत्त्वान्तर को अभिव्यक्त तथा तत्त्वान्तर रूप से अभिव्यक्त होने का सामर्थ्य है, उसे 'प्रकृति-विकृति' कहते हैं। जैसे—महत्, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्राएँ।

प्रत्यय-सर्ग—विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि तथा सिद्धि—इन चार का एक गण 'प्रत्यय-सर्ग' कहलाता है।

प्रमा—यथार्थ बुद्धि-वृत्ति तथा पौरुषेय बोध—दोनों 'प्रमा' कहलाते हैं। इनमें बुद्धिवृत्ति 'गौण प्रमा' है और चित्तवृत्ति का फलभूत पुरुषवर्ती बोध 'मुख्य प्रमा' है।

प्रमाण—प्रमा के करण को 'प्रमाण' कहते हैं। बुद्धि-वृत्ति का करण चक्षुरादि तथा पौरुषेय-बोध का करण बुद्धिवृत्ति कही जाती है।

भाव-सर्ग—बुद्धितत्त्वजनित सृष्टि 'भाव-सर्ग' कहलाती है। यह 'प्रत्यय सर्ग' तथा 'महदादिसर्ग' नाम से भी व्यवहृत हुई है।

भाव—बुद्धि के चार सात्त्विक; धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य तथा चार तामस; अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य—इन आठ धर्मों को 'भाव' कहते हैं।

भोग—सांसारिक सुख-दुःख का अनुभव 'भोग' कहलाता है। परिणामिनी बुद्धि का वास्तविक तथा पुरुष का औपाधिक भोग है।

मनुष्य-सर्ग—मनुष्य-सृष्टि को 'मनुष्य-सर्ग' कहते हैं। इसमें मनुष्य ही निवास करते हैं।

महाभूत—तन्मात्राओं के कार्य; आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी, 'महाभूत' कहलाते हैं।

लिङ्ग—अनुमापक तथा लय को 'लिङ्ग' कहते हैं। आत्मा के अनुमापक होने से बुद्ध्यादि त्रयोदशकरण को 'लिङ्ग' कहते हैं। तथा महत् से लेकर महाभूत पर्यन्त पदार्थों का स्वभाव अपने कारण में लय को प्राप्त होना है, अतः ये तेईस पदार्थ 'लिङ्ग' कहे जाते हैं।

विकार—कारण की कार्यावस्था 'विकार' कही जाती है। यहां विकार का तात्पर्य 'केवल-विकृति' से है, अत; 'षोडश विकार' की मान्यता प्रचलित है। षोडश विकार हैं—पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, उभयात्मक मन तथा पञ्चमहाभूत।

विदेह-मुक्ति—जीवन्मुक्ति के पश्चात् 'विदेहमुक्ति' का क्रम है। इस प्रकार देहपात के पश्चात् जो मुक्ति होती है, उसे 'विदेहमुक्ति' कहते हैं। विदेहमुक्ति; दुःखत्रयनिवृत्ति, स्वस्वरूपावस्थान तथा केवलीभाव रूप है।

विवेकख्याति—प्रकृति-पुरुष के भेदज्ञान को 'विवेकख्याति' कहते हैं।

वीत—अन्वयव्याप्तिमूलक अनुमान को 'वीत' कहते हैं।

वैकृत-अहंकार—सात्त्विक अहंकार को 'वैकृत-अहंकार' कहते हैं। (तामस अहंकार को 'भूतादि' तथा राजस को 'तैजस' कहते हैं)।

वृत्ति—व्यापार को 'वृत्ति' कहते हैं।

व्यक्त—महत् से लेकर महाभूत पर्यन्त तेईस तत्त्वों को 'व्यक्त' कहते हैं, क्योंकि ये अव्यक्त प्रकृति की सत्ता को व्यक्त करते हैं।

व्यक्त-धर्म—हेतुमत्त्व, अनित्यत्व, अव्यापकत्व, क्रियावत्त्व, नानात्व, आश्रितत्व, लिङ्गत्व, सावयवत्व तथा परतन्त्रत्व—ये नौ 'व्यक्त-धर्म' कहलाते हैं।

व्यक्ताव्यक्त-साधारण, धर्म—त्रिगुणत्व, अविवेकित्व, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनत्व तथा प्रसवधर्मित्व—ये छह 'व्यक्ताव्यक्त-साधारण धर्म' कहलाते हैं।

षट्-कोश—पुत्रादि स्थूलशरीरनिष्ठ रोम, रक्त, मांस, स्नायु, अस्थि तथा मज्जा—ये छह 'षट्-कोश' कहलाते हैं। प्रथम तीन माता के शरीर के अंश हैं तथा अन्तिम तीन पिता के शरीर के अंश हैं।

षष्टि पदार्थ—षष्टि तन्त्र सांख्य में षष्टि (साठ) पदार्थ हैं। प्रधान में वर्तमान तीन—एकत्व, अर्थवत्त्व, परार्थत्व; पुरुष में वर्तमान तीन—अन्यत्व, अकर्तृत्व, बहुत्व; प्रधान पुरुष दोनों में वर्तमान तीन—अस्तित्व, योग, वियोग; स्थूलसूक्ष्मभूत में वर्तमान इक्यावन—स्थिति, पांच विपर्यय, आठ सिद्धि, नौ तुष्टि तथा अट्ठाईस अशक्तियाँ—ये 'षष्टि-पदार्थ' कहलाते हैं।

सूक्ष्म-शरीर—धर्मादि आठ भावों से युक्त, संसरणशील अष्टादशतत्त्वात्मक शरीर 'सूक्ष्म-शरीर' कहलाता है। महत्, अहंकार, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय तथा पञ्चतन्मात्राओं का घटक 'सूक्ष्मशरीर' है। वेदान्तीय सूक्ष्मशरीर सप्तदश तत्त्वात्मक है।
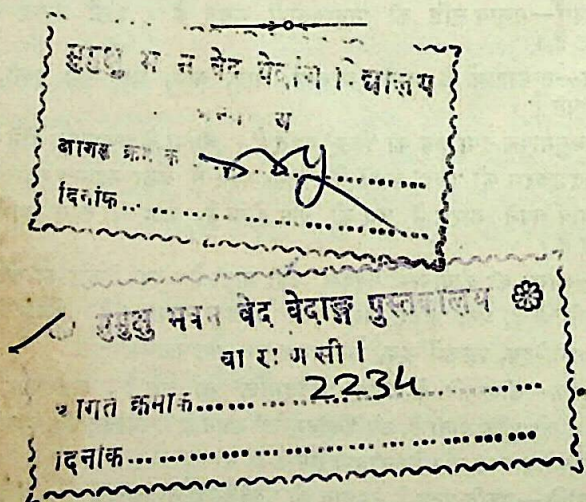
संकेत-सूची

अ० को०	=	अमरकोश
अ० पु०	=	अग्निपुराण
क० उप०	=	कठ उपनिषद्
गौ० वृ०	=	गौतमसूत्रवृत्ति
च० सू०	=	चरकसूत्र
तं० सि० रत्ना०	=	तन्त्रसिद्धान्तरत्नाकर
दे० भा०	=	देवीभागवत
ना० ती० कृत चं०	=	नारायणतीर्थकृतचन्द्रिका
न्या० कु०	=	न्यायकुसुमाञ्जली
न्या० को०	=	न्यायकोश
न्या० सि० मं०	=	न्यायसिद्धान्तमञ्जरी
न्या० वा०	=	न्यायवार्त्तिक
न्या० सू०	=	न्यायसूत्र
पाणि० सू०	=	पाणिनीयाष्टाध्यायी
प्र० वा०	=	प्रमाणवार्त्तिक
प्रशस्त०	=	कणादसूत्रभाष्य (प्रशस्तपाद)
भा० प० श्लो०	=	भाषा परिच्छेद
मं० प्र०	=	न्यायसिद्धान्तमञ्जरीप्रकाश
मनु०	=	मनुस्मृत्ति
मा० वृ०	=	माठरवृत्ति
मा० पु०	=	मार्कण्डेय पुराण
मु० गु०	=	मुक्तावली गुणनिरूपण
मुक्ता० का०	=	मुक्तावली कारिका
यो० सू०	=	योगसूत्र
वात्स्या०	=	गौतमसूत्रभाष्यम्
वा० पु०	=	वायुपुराण
वि० पु०	=	विष्णुपुराण
वे० प०	=	वेदान्तपरिभाषा
वै०	=	वैशेषिकदर्शन
वै० उ०	=	वैशेषिकोपस्कार
श० क० द्रु०	=	शब्दकल्पद्रुम
सर्व० सं०	=	सर्वदर्शनसंग्रह
सां० त० कौ०	=	सांख्यतत्त्वकौमुदी
सां० प्र० भा०	=	सांख्यप्रवचनभाष्य
श्रीमद्भा०	=	श्रीमद्भागवत
हितो०	=	हितोपदेश